वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली

★

क्रम संख्या 8329
काल नं० (05)22(48) नागरी
खण्ड

...रय

...संरक्षण तथा प्रसार।
...विवेचन।
... अनुसंधान।
...र कला का पर्यालोचन।

१ – प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२ – पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

३ – पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४ – लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५ – पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

४३२१

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६८
संवत् २०२०
अंक १ - ४

संपादकमंडल

डा० संपूर्णानंद
डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा
श्री करुणापति त्रिपाठी
डा० बच्चनसिंह (संयोजक)

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

विषयसूची

विमर्श

समीक्षा

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६८] कार्तिक - माघ, संवत् २०२० [अंक २-४

शिवपुराण तथा वायुपुराण का स्वरूपनिर्णय

बलदेव उपाध्याय

विभिन्न पुराणों में निर्दिष्ट पुराणसूची में चतुर्थ पुराण के रूप में किस पुराण की गणना मान्य की जाय, इस विषय में ऐकमत्य नहीं है। यह वस्तुतः मतभेद का एक गंभीर विषय है। पुराणों की बहुल संख्या 'शिवपुराण' को चतुर्थ पुराण मानने के पक्ष में है, अल्पीयसी संख्या 'वायुपुराण' को वह आदरणीय स्थान देने पर आग्रह रखती है। नामनिर्देशपूर्वक यदि स्पष्टतः कहना पड़े, तो कहना होगा कि कूर्म, पद्म, ब्रह्मवैवर्त, भागवत, मार्कंडेय, लिंग, वराह तथा विष्णु 'शिवपुराण' के पक्ष में अपनी संमति देते हैं। जब कि देवीभागवत, नारद तथा मत्स्य 'वायुपुराण' के पक्ष में अपना मत देते हैं, इस प्रकार विभिन्न आठ पुराणों के द्वारा निर्दिष्ट होने से 'शिवपुराण' को ही चतुर्थ महापुराण होने का श्रेय प्राप्त है, परंतु ऐसे विषयों में बहुमत का कोई मूल्य तथा महत्व नहीं माना जा सकता। प्रामाणिकता का निर्णय बहुमत की कसौटी से करना न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता।

१. दोनों पुराणों का वर्तमान स्वरूप

इस समय शिवपुराण तथा वायुपुराण के नाम से दो विभिन्न ग्रंथ प्रचलित हैं जो आकारप्रकार में, वर्ण्यविषय के संकेत में नितांत भिन्नता रखते हैं। शिवपुराण बंबई के वेंकटेश्वर प्रेस में छपकर प्रकाशित है (सं० १९८२, शाके १८४७) तथा पंडितपुस्तकालय, काशी से अभी निकला है। वायुपुराण बिब्लिओथेका इंडिका (कलकत्ता, १८८०-८८ ई०) में, आनंद संस्कृत ग्रंथावलि

(पूना, १६०५ ई०) में तथा गुरुमंडल ग्रंथमाला (कलकत्ता, वि० सं० २०१६, ई० सन् १६५६; उन्नीसवाँ पुष्प) में प्रकाशित हुआ है। इन तीनों संस्करणों में पाठ प्रायः एक समान ही है। शिवपुराण की खंडभूता संहिताओं की संख्या का निर्णय एक विषम समस्या है। इस समस्या की जटिलता का अनुमान इस घटना से किंचिन्मात्र लग सकता है, जब हम दो प्रकार की संहिताओं का निर्देश वर्तमान शिवपुराण में दो स्थानों पर प्रायः एक ही रूप में पाते हैं। शिवपुराण की **विद्येश्वर संहिता** (अध्याय २। ४६ - ५५) में तथा **वायवीय संहिता** के पूर्वार्ध में (प्रथम अध्याय, श्लोक ५० - ५२) बारह संहिताओं तथा उनकी श्लोकसंख्या का निर्देश प्रायः एक ही आकारप्रकार से उपलब्ध होता है।[1] इन संहिताओं के नाम ये हैं — विद्येश्वर, रौद्र, विनायक, औम, मातृ, रुद्रैकादश, कैलास, शतरुद्र, कोटिरुद्र, सहस्रकोटि, वायुप्रोक्त संहिता तथा धर्मसंहिता।

इनकी श्लोकसंख्या एक लाख बताई जाती है। इन लक्षश्लोकात्मक द्वादश संहिताओं से संपन्न शिवपुराण का अस्तित्व हस्तलेखों के रूप में भी नहीं सुना जाता, इसके प्रकाशित होने की तो बात ही न्यारी है। श्लोकों की यह महती संख्या भी आलोचकों की शंका का एक प्रधान कारण है। इस संख्या के संमिलित होने पर तो चतुर्लक्षात्मक पुराणों की संख्या में विशेष वृद्धि का प्रसंग उपस्थित होता है जो कथमपि न्याय्य तथा निर्दुष्ट नहीं माना जा सकता। तथ्य यही प्रतीत होता है कि शिवपुराण की मूलभूता चतुर्विंशति साहस्री सप्तसंहिताओं के स्थान पर ही यह चतुर्गुणित संख्यावाली द्वादश संहिताएँ केवल पुराण के विशिष्ट गौरव तथा सर्वमान्य माहात्म्य को प्रकट करने के लिये ही कल्पित की गई हैं। क्योंकि पुराणों में सबसे बड़ा पुराण है स्कंदपुराण, परंतु उसके भी श्लोकों की संख्या इक्यासी हजार तक सीमित है। फलतः लक्षश्लोकी महाभारत से तुलना तथा समान संमान से संपन्न होने की भव्य भावना ही 'शिवपुराण' के इस विराट रूप का कारण मानी जा सकती है। उपलब्ध शिवपुराण की सातों संहिताओं का निर्देश इस प्रकार है — १ - **विद्येश्वर** संहिता (२५ अध्याय), २ - **रुद्र** संहिता (१६७ अध्याय) [जिसमें पाँच खंड हैं (क) सृष्टि (२० अ०), (ख) सती खंड (४३ अ०), (ग) पार्वती खंड (५५ अ०), (घ) कुमार खंड (२० अ०) तथा (ङ) युद्ध खंड (५६ अ०)], ३ - **शतरुद्र** संहिता (४२ अ०), ४ - **कोटिरुद्र** संहिता (४३ अ०), ५ - **उमा** संहिता (५१ अ०), ६ -**कैलास** संहिता (२३ अ०) तथा ७ - **वायवीय** संहिता (पूर्व भाग ३५ अ०

१. द्रष्टव्य परिशिष्ट १।

तथा उत्तर भाग ४१)। इन संहिताओं में अंतिम संहिता वायुप्रोक्त होने से वायवीय नाम से अभिहित की जाती है तथा इसके दो भाग हैं जिनके अध्यायों की संख्या का निर्देश ऊपर किया गया है। इस प्रकार समग्र शिवपुराण में ४५७ अध्याय हैं, परंतु वायवीय संहिता में केवल ७६ अध्याय तथा चार सहस्र श्लोक हैं।

वायुपुराण पुराणसाहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है — पुराणीय पंचलक्षण की संपत्ति में तथा रचना की प्राचीनता में तथा शैली की विशुद्धता में। पुराणीय पंचलक्षणीय का उचित संनिवेश लघुकाय होने पर भी वायुपुराण का एक आकर्षक वैशिष्ट्य है। इसमें सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वंतर तथा वंशानुचरित — ये पाँचों विषय दीर्घ या ह्रस्व मात्रा में उपलब्ध होते हैं। उपलब्ध वायुपुराण में ११२ अध्याय मिलते हैं, परंतु ग्रंथ की अंतरंग परीक्षा से स्पष्ट पता चलता है कि अंत के नौ अध्याय (१०४ – ११२) वैष्णव मत की पुष्टि के लिये किसी वैष्णव लेखक ने पीछे से जोड़े हैं। इस पुराण का अंतिम अध्याय बिना किसी संदेह के १०३रा अध्याय ही है, क्योंकि इसके अंत में पुराण के अवतार को गुरुपरंपरा प्रामाणिक रूप से निबद्ध की गई है (श्लोक ५८ –६६) तथा आगे के श्लोकों में फलश्रुति और महेश्वर की स्तुति की गई है जो वायुपुराण के शैवतत्वप्रतिपादक होने का स्पष्ट संकेत है। अध्याय १०४ में महर्षि व्यास द्वारा परमतत्व के वर्णन तथा साक्षात्कार का विवरण है और वह परमतत्व **राधासंवलित श्रीकृष्ण** ही माने गए हैं। यहाँ आनंदकंद श्री कृष्णचंद्र का वर्णन[१] बड़ी ही सरस भाषा तथा रसमयी शैली में निबद्ध होकर रससंपन्न गीतिकाव्य का चमत्कार उपस्थित कर रहा है। इस वर्णन में राधा का नामोल्लेख, जो श्रीमद्भागवत तथा विष्णुपुराण जैसे विशुद्ध विष्णुभक्तिप्रधान पुराणों में भी नहीं किया गया है, वायु के इस अध्याय को इन पुराणों की रचना से अवांतर कालीन सिद्ध कर रहा है। वायुपुराण के अंतिम आठ अध्याय (१०५— ११२) गयामाहात्म्य के विशद प्रतिपादक हैं। गया के तीर्थदेवता 'गदाधर' नाम्ना प्रख्यात विष्णु ही हैं जिनकी यह अनुप्रासमयी स्तुति इसके साहित्यिक स्वरूप की परिचायिका है—

> **गदाधरं ह्यपगत कालकल्मषं**
> **गयागतं विदितगुणं गुणालिगम्।**
> **गुहागतं गिरिवर गौर गेहगं**
> **गणार्चितं वरदमहं नमामि॥**
>
> —अ० १०६, श्लोक २७।

१. द्रष्टव्य परिशिष्ट २।

इस प्रकार अध्याय १०४ — ११२ भगवान् विष्णु की स्तुति तथा महत्ता के प्रतिपादक हैं और ये निश्चयरूप से वैष्णवमत की संवर्धना के निमित्त किसी लेखक ने इस प्राधान्यतः शिवमाहात्म्यप्रतिपादक पुराण में पीछे से जोड़ दिए हैं। ग्रंथ के प्रथम अध्याय में पुराणस्थ विषयों की अनुक्रमणी में भी 'गयामाहात्म्य' का निर्देश न होना निश्चय ही इसे प्रक्षिप्त सिद्ध कर रहा है।

वायुपुराण चार भागों में विभक्त है - **१. प्रक्रियापाद** (अ० १ – ६), **२. उपोद्घातपाद** (अ० ७ – ६४), **(३) अनुषंगपाद** (अ० ६५— ६६), **(४) उपसंहारपाद** (अ० १०० – ११२)। भागचतुष्टय की यह कल्पना बड़ी प्राचीन है। इन भागों की तुलना वेदचतुष्टय तथा कालचतुष्टय से की गई है तथा समग्र पुराण की संख्या द्वादश सहस्र निश्चित रूप से दी गई है (३२।६६) जो उपलब्ध पुराण की श्लोकसंख्या से बहुत अधिक नहीं है। प्रचलित वायुपुराण की श्लोकसंख्या दस सहस्र नौ सौ इक्यानबे (१०,६६१) है। प्रतीत होता है कि इस पुराण के कुछ अंश छिन्न भिन्न तथा त्रुटित हो गए हैं। इतना तो निश्चित ही है कि आजकल का उपलब्ध यह पुराण प्राचीन वायुपुराण से विशेष भिन्न नहीं है।

मूल श्लोकों की संख्या का प्रतिपादक पुराणस्थ वचन ध्यान देने योग्य है—

एवं द्वादश साहस्रं पुराणं कवयो विदुः । ६६
यथा वेदश्चतुष्पाद श्चतुष्पादं तथा युगम्
यथा युगं चतुष्पादं विधात्रा विहितं स्वयम्
चतुष्पादं पुराणं तु ब्रह्मणा विहितं पुरा ॥ ६७ ॥

—वायुपुराण, द्वात्रिंश अध्याय।

२. चतुर्थ पुराण का लक्षण

शिवपुराण तथा वायुपुराण में किसे महापुराण माना जाय, यह समस्या गंभीर है। इसका समाधान यहाँ प्रस्तुत किया गया है। पुराणों की संख्या अठारह है; यह तो पौराणिकों का निश्चित तथा प्रामाणिक संप्रदाय है। इससे विरुद्ध होने के कारण डा० फरकूहर का पुराणों की संख्या को बीस मानने का आग्रह कथमपि समुचित नहीं है।[3] उन्होंने शिव तथा वायु के अतिरिक्त 'हरिवंश' को पुराणों के भीतर अंतर्भूत कर पुराणसंख्या बीस मानी है। इस मत के लिये कोई भी आधार नहीं है — न संप्रदाय का और न किसी ग्रंथ का ही। कूर्मपुराण का

१. आउट लाइन आफ् रिलिजस लिटरेचर आव् इंडिया, पृ० १३६।

वायु तथा शिवपुराण दोनों को एक साथ अष्टादश पुराणों के अंतर्गत मानना कथमपि समुचित नहीं है, क्योंकि यह सूची 'अग्निपुराण' को महापुराण से बाहर फेंक देती है, जो सब प्रकार से पुराणों के अंतर्गत निश्चित रूप से माना गया है। फलतः वायुपुराण और शिवपुराण — इन दोनों में से किसी एक को तो महापुराणों की सूची से हटाना ही पड़ेगा। परंतु किसको? इसी का समाधान करने का यह प्रयास है।

सबसे प्रथम चतुर्थ पुराण के समस्त लक्षणों को एकत्र करना चाहिए कि ये लक्षण दोनों पुराणों में से किसके साथ सुसंगत घटित होते हैं। पुराणों के अनुक्रमणी भाग में ये लक्षण दिए गए हैं, परंतु इस भाग पर विशेष आस्था रखना भी न्याय्य नहीं, क्योंकि ये अर्वाचीन काल की रचना है — संभवतः एकादश शताब्दी की। नारदीयपुराण (पूर्वार्ध ६५ अ०), रेवामाहात्म्य तथा मत्स्यपुराण (५३ अ०) में चतुर्थ पुराण के लक्षण दिए गए हैं। **नारदीयपुराण**[४] (१।९५ - १-१६ श्लोक) के अनुसार वायवीयपुराण रुद्र का प्रतिपादक, चौबीस सहस्र श्लोकों से संपन्न, श्वेत कल्प के प्रसंग से वायु द्वारा प्रतिपादित है। इसके दो भाग हैं — पूर्व भाग में सर्गादि मन्वंतरो के राजवंश, गयासुर का विस्तार से हनन, माघ मास का माहात्म्य, व्रत, दानधर्म, राजधर्म आदि विषयों का विवरण दिया गया है। उत्तर भाग में नर्मदा का वर्णन तथा शिव का माहात्म्य प्रतिपादित है। **रेवामाहात्म्य**[५] के अनुसार पूर्व भाग में शिव की महिमा तथा उत्तरार्ध में रेवा (नर्मदा) का माहात्म्य वर्णित है। **मत्स्यपुराण**[६] **तथा वायवीय संहिता**[७] का संक्षिप्त वर्णन बतलाता है कि वायु ने श्वेतकल्प के प्रसंग से रुद्र की महिमा चौबीस हजार श्लोकों में प्रतिपादित की है। इन लक्षणों को समन्वित करने से इस चतुर्थ पुराण के वैशिष्ट्य का परिचय निम्नरूपेण मिलता है। यह वायु के द्वारा प्रोक्त श्वेतकल्प के प्रसंग में रुद्र की महिमा का प्रतिपादक पुराण है जिसमें दोनों खंडों की श्लोकसंख्या मिलाकर २४ हजार है। नारदीयपुराण की अनुक्रमणी अन्य की अपेक्षा कुछ विस्तृत है। उसके अनुसार पूर्वार्ध में गयासुर के वर्णन का तथा उत्तरार्ध में नर्मदा के माहात्म्य का वर्णन है। तथा दान, धर्म आदि अन्य विषयों का भी यहाँ संकेत है। अब देखना है कि इन लक्षणों का समन्वय किस पुराण में किया जा सकता है — शिवपुराण में अथवा वायुपुराण में।

३. शिवपुराण में लक्षणसंगति

प्रथमतः शिवपुराण में इस लक्षण का समन्वय संघटित नहीं होता। शिवपुराण के अंतर्गत अंतिम 'वायवीय संहिता' का ही प्रवचन वायु के द्वारा निर्दिष्ट

४–७ द्रष्टव्य परिशिष्ट ३, ४, ५ तथा ६।

है, समस्त पुराण का नहीं। उसी के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध नाम से दो खंड अवश्य विद्यमान हैं, परंतु श्लोकों की संख्या केवल चार सहस्र है। शिव के माहात्म्य का वर्णन तथा शैवदर्शन के सिद्धांतों का बहुशः प्रतिपादन अवश्य उपलब्ध है, परंतु उसके पूर्वार्ध में न तो गयासुर के वध का प्रसंग है और न उत्तरार्ध में रेवा (नर्मदा) के माहात्म्य का ही कहीं संकेत है। समग्र शिवपुराण के श्लोकों की संख्या चौबीस हजार से कहीं अधिक है। ऐसी दशा में शिवपुराण को चतुर्थ पुराण होने का गौरव कथमपि प्रदान नहीं किया जा सकता। शिवपुराण को महापुराण माननेवाले श्रीधर स्वामी भागवत की टीका (१।१।४) में 'वायवीय' से उद्धृत इस श्लोक की शिवपुराण में सत्ता पर भी अपना पक्ष आधारित करते हैं —

तथा च वायवीये

एतन्मनोमयं चक्रं मया सृष्टं विसृज्यते।
यत्रास्य शीर्यते नेमिः सदेशस्तपसः शुभः॥

यह श्लोक शिवपुराण की वायवीय संहिता (१।२।८८) में उपलब्ध होता है। इस उपलब्धि से हम इतना ही अनुमान लगा सकते हैं कि श्रीधर स्वामी के समय (१३वीं शती) में शिवपुराण ने 'वायुपुराण' को इतना दबा रखा था कि 'वायवीय संहिता' के द्वारा सामान्यजन 'वायुपुराण' का अर्थ समझने लग गए थे। निबंधकारों का साक्ष्य इसके विपरीत है। वे लोग शिवपुराण की अपेक्षा वायुपुराण से ही प्रमाण के लिये श्लोक उद्धृत करते हैं।[८] श्रीधर स्वामी के द्वारा उद्धृत श्लोक उपलब्ध वायुपुराण में भी कुछ भिन्न रूपमें उपलब्ध होता है।[९] इससे पता चलता है कि श्रीधर स्वामी के सामने वायुपुराण का कोई भिन्न ही पाठ वर्तमान था। यदि शिवपुराण को महापुराण की गणना में निविष्ट माना जाय, तो उसकी परंपरागत एक लक्ष श्लोकों के योग से तो पुराणों की श्लोकसंख्या चार लाख से बहुत ही बढ़ जायगी। यदि समग्र 'शिवपुराण' को इस गणना में न रखकर केवल 'वायवीय संहिता' को ही अंतर्भुक्त मानें, तो विशेष विप्रतिपत्ति है उसके श्लोकों की संख्या की। अनुक्रमणीनिर्दिष्ट २४ सहस्र श्लोकों के विरोध में यहाँ तो केवल ४ हजार ही श्लोक मिलते हैं। ऐसी दशा में शिवपुराण में महापुराण की संगति कथमपि नहीं बैठती।

८. हाजरा : पौराणिक रेकार्ड्स आन हिंदू राइट्स ऐंड कस्टम्स, पृ० १४।

९. भ्रमतो धर्मचक्रस्य यत्र नेमिरशीर्यत।
कर्मणा तेन विख्यातं नैमिषं मुनिपूजितम्॥ वायुपुराण (आनंदाश्रम) २।८।

४. वायुपुराण में लक्षणसंगति

अब इस लक्षण की संगति उपलब्ध वायुपुराण से मिलाने से इसके अनेक अंश -- सर्वांश भले ही नहीं -- निश्चित रूप से मिलते हैं। इसके वक्ता वायु हैं तथा रुद्र - शिव की महिमा का विशद तथा व्यापक प्रतिपादन यहाँ किया गया है। आज इसमें चार खंड (पाद) अवश्य उपलब्ध होते हैं, परंतु हस्तलेखों की समीक्षा बतलाती है कि प्राचीन काल में कभी इसके दो ही खंड थे -- पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध। अड्यार से उपलब्ध एक हस्तलेख में यही विभाजन है।[10] यही विभाजन अनुक्रमणी में निर्दिष्ट किया गया है। रहा वायुपुराण की श्लोकसंख्या का समन्वय। ग्रंथ की अंतरंग परीक्षा से तथा हस्तलेखों के प्रामाण्य पर वायुपुराण का उल्लेख 'द्वादशसाहस्री संहिता' के नाम से किया गया है। इसमें मूलतः १२ हजार ही श्लोक थे और इससे संबद्ध अनेक स्वतंत्र माहात्म्यग्रंथों का उदय कालांतर में होता गया जिसमें अनुक्रमणीरचना से पूर्व उसमें २४ हजार श्लोकों की मान्यता सिद्ध हुई। डाक्टर पुसालकर का कहना है कि इगलिंग के कैटेलाग (हस्तलेख सं० ३५६६) में वायुपुराण के अंतर्गत किसी **लक्ष्मी संहिता** का उल्लेख है[11] जिससे इस पुराण से संबद्ध अन्य संहिताओं के अस्तित्व की कल्पना न्याय्य प्रतीत होती है। ये संहिताएँ जो मूल वायुपुराण की कभी अंशभूता थीं, आज उससे हटकर पृथक् रूप से उपलब्ध होती हैं। इसलिये वायुपुराण के श्लोकों की संख्या की गणना अनुचित नहीं प्रतीत होती। वाराहकल्प से संबद्ध होने पर भी श्वेतकल्प की घटनाओं का भी उल्लेख गौणरूप से वायुपुराण में पाया जाता है। इस प्रकार वायुपुराण में चतुर्थ पुराण के सब लक्षण तो पूर्णतया संगत नहीं होते, परंतु अधिकांश की संगति बैठती है। गयामाहात्म्य प्रथमार्ध में उल्लिखित किया गया है, परंतु आज यह ग्रंथ के बिलकुल अंत में ही मिलता है (अध्याय १०५ से लेकर ११२ तक)। मेरी दृष्टि में यह माहात्म्य मूल ग्रंथ में पीछे से जोड़ा गया अंश है, परंतु अनुक्रमणी की रचना से पूर्व ही यह वहाँ विद्यमान था। ऊपर मैंने दिखलाया है कि किस प्रकार उपलब्ध वायुपुराण का नैसर्गिक पर्यवसान १०३रे अध्याय में ही है और उसके बाद वाला अंश पीछे जोड़ा गया है। फलतः शिवपुराण की अपेक्षा वायुपुराण में पूर्वनिर्दिष्ट लक्षण अधिकता से उपलब्ध होते हैं।

१० हस्तलेख की पुष्पिका -- इति श्री महापुराणे वायुप्रोक्ते द्वादश साहस्र्यां संहितायां ब्रह्मांडावर्तं समाप्तम्। समाप्तं वायुपुराणं पूर्वार्धम्। अतः परं रेवा-माहात्म्यं भविष्यति ॥

११. डा० पुसालकर -- स्टडीज इन दि एपिक्स ऐंड पुराणज, पृ० ३८ (बंबई, १९५५)।

५. वायुपुराण का रचनाकाल

इतना ही नहीं, वायुपुराण की रचना, उल्लेख, विषयसंगति आदि का विवेचन ऐसे स्वतंत्र प्रमाण हैं जिनके द्वारा इसके महापुराण होने के तथ्य की पर्याप्तरूपेण पुष्टि होती है। वायुपुराण निश्चित रूपेण प्राचीन, तांत्रिक प्रभाव से विरहित तथा साम्प्रदायिक संकीर्णता से नितांत विवर्जित पुराण है, जब कि शिवपुराण अर्वाचीन, तांत्रिकता से मंडित तथा रौद्री साम्प्रदायिकता से समग्रतया संपुटित एक उपपुराण की कोटि का ग्रंथ है। इस तथ्य की संपुष्टि दोनों पुराणों के यथाविधि समय-निर्देश के पोषक प्रमाण से की जा सकती है। षष्ठ तथा सप्तमशतक में वायुपुराण की लोकप्रियता का पर्याप्त परिचय हमें उपलब्ध होता है शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र पर भाष्य द्वारा तथा बाणभट्ट के दोनों ग्रंथों द्वारा। शंकराचार्य ने पुराण का न तो नामनिर्देश किया है और न पुराण का सामान्य उल्लेख ही किया है। वे पुराणस्थ वचनों को 'स्मृतिवचन' मानते हैं, परंतु ये किसी भी स्मृति में उपलब्ध न होकर 'पुराण' में ही उपलब्ध होते हैं — विशेषतः 'वायुपुराण' में। उदाहरणार्थ ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य (१।३।२८) में "नामरूपे च भूतानां" पद्य स्मृतिवचन रूप से उद्धृत है। यह वायुपुराण के ६वें अध्याय का ६३ वाँ श्लोक है। इसी प्रकार भाष्य (१।३।३०) में दो पद्य उद्धृत किए गए हैं स्मृतिवचन के रूप में —

> तेषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे
> तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः।
> हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते
> तद् भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत् तस्य रोचते॥

ये दोनों वायुपुराण में अष्टम अध्याय के ३२ तथा ३३ संख्यक पद्य हैं। ये अगले अध्याय में पुनः उद्धृत किए गए हैं (६ अ०, ५७ तथा ५८ श्लोक)। इसी भाष्य के अंत में स्मृतिवचन के रूप में तीन पद्य उद्धृत किए गए हैं —

स्मृतिरपि—

> ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः
> शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवास्य ददाति सः।
> यथर्तुष्वृतु लिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये
> दृश्यन्ते तानि तान्येव यथा भावा युगादिषु॥
> यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह
> देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च॥

इन तीनों श्लोकों में से आदि के दोनों श्लोक वायुपुराण में (६ अ०, ६४ तथा ६५ श्लोक) उपलब्ध होते हैं। इन उद्धृत श्लोकों के स्थान का निर्देश आचार्य शंकर

ने नहीं दिया है। परंतु मेरी दृष्टि में ये श्लोक वायुपुराण से ही उद्धृत किए गए हैं। इसका मुख्य कारण इस पुराण की उस युग में —सप्तम शती में — लोकप्रियता है; क्योंकि शंकराचार्य से पूर्ववर्ती प्रख्यात गद्यकाव्यनिर्माता बाणभट्ट ने अपने दोनों ग्रंथों में **वायुपुराण** का निःसंदिग्ध उल्लेख किया है। **कादंबरी** के पूर्वभाग में जाबालि आश्रम के वर्णनप्रसंग में बाणभट्ट की एक विख्यात परिसंख्यामयी उक्ति है — **पुराणे वायु प्रलपितम्** (अर्थात् वायुजन्य प्रलपन पुराणमें था।) अन्यत्र कहीं भी वायुजन्य प्रलाप -- वायु के प्रभाव में बकझक करना — नहीं था। यह निःसंदेह 'वायुपुराण' के अस्तित्व का परिचायक है। इतना ही नहीं, उस युग में वायुपुराण का प्रवचन भी एक सामान्य वस्तु थी।[१] **हर्षचरित** (तृतीय परि०) में बाणभट्ट का उनके मित्र पुस्तकवाचक सुदृष्टि ने गीतवाद्य के द्वारा मनोरंजन किया जिसमें पवमान (वायु) प्रोक्त पुराण का पठन भी संमिलित था। यह पुराण व्यासमुनि के द्वारा गीत, अत्यंत विस्तृत, संसार भर में व्यापक तथा प्रभावशाली, पवन के द्वारा प्रोक्त था और इस प्रकार 'हर्षचरित' से अभिन्न था। ध्यातव्य है कि इस आर्या में पुराण के लिये प्रयुक्त विशेषण श्लेष के माहात्म्य से 'हर्षचरित' की विशिष्टता के प्रतिपादक हैं। यह वर्णन वायुपुराण की लोकप्रियता का निःसंदिग्ध प्रमाण है। फलतः वायुपुराण सप्तम शती से निःसंदेह प्राचीनतर है।

महाभारत में वायुप्रोक्त, ऋषियों द्वारा संस्तुत - प्रशंसित पुराण का स्पष्ट निर्देश है जिसमें अतीत (भूत) तथा अनागत (भविष्य) से संबद्ध चरितों का वर्णन किया गया है—

एतत्ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं मया।
वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषि संस्तुतम् ॥

—महाभारत वनपर्व १९१।१६।

इस पद्य में 'अतीतानागत' पद से तात्पर्य उन राजवंशावलियों से है जो कलिपूर्व में तथा भविष्य में होनेवाली हैं। उपलब्ध वायुपुराण में यह वंशावली केवल मिलती ही नहीं, प्रत्युत अन्य पुराणों की वंशावलियों से यह सर्वथा प्राचीनतम भी स्वीकृत की जाती है। 'शिवपुराण' में ऐसी वंशावली का नितांत अभाव

१२. पुस्तकवाचकः सुदृष्टिः गीत्या **पवमान प्रोक्तं** पुराणं पपाठ।
तदपि मुनिगीतमतिपृथु तदपि जगद्व्यापि पावनं तदपि
हर्षचरितादभिन्नं प्रतिभाति हि पुराणमिदम् ॥
इस आर्या में 'पावनं' (पवित्र तथा पवनसंबंधी अर्थ का द्योतक) एक विशिष्ट पद है।

है। फलतः महाभारत के उक्त श्लोक के प्रमाण पर शिवपुराण तो कथमपि चतुर्थ महापुराण का स्थान ग्रहण नहीं कर सकता।

पुराण के लक्षण की दृष्टि से भी वायुपुराण एक नितांत संपन्न तथा पुष्ट पुराण है जिसमें पुराण के पाँचों लक्षणों की सत्ता विद्यमान है। इस पुराण के भिन्न भिन्न अध्यायों में सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वंतर, वंश तथा वंशानुचरित विद्यमान हैं, परंतु शिवपुराण में अधिक से अधिक सर्ग तथा प्रतिसर्ग ही जहाँ तहाँ मिलते हैं। राजाओं तथा ऋषियों के विषय में प्राचीन अनुवंश श्लोक तथा गाथाएँ वायुपुराण में स्थान स्थान पर उपलब्ध होती हैं, परंतु शिवपुराण में नहीं। यह भी वायुपुराण की प्राचीनता का निःसंदिग्ध प्रमाण है। शिवपुराण एक भारी भरकम पुराण है जिसमें शिव से संबंध रखनेवाली नाना कथाओं, चरित्रों, पूजापद्धतियों, दीक्षा - अनुष्ठानों का बड़ा ही विशाल वर्णन है। इस पुराण की द्वितीय रुद्र संहिता के अवांतर सतीखंड में दक्षकन्या सती के चरित्र का व्यापक विवरण ४३ अध्यायों में दिया गया है जिसमें एक अध्याय में सीता का रूप धारण कर सती द्वारा जंगल में इतस्ततः भ्रमण करनेवाले जानकीवियुक्त रामचंद्र की परीक्षा लेने का प्रसंग है जिसका ग्रहण तुलसीदास ने रामचरितमानस के बालकाड में बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। इसी प्रकार पार्वतीखंड में पार्वती के जन्म तथा तपश्चरण का विवरण पर्याप्त विस्तार से दिया गया है। वायवीय संहिता में शैवतंत्र से संबद्ध उपासनापद्धति का ही विशद विवेचन नहीं है, प्रत्युत शैवदर्शन के सिद्धांतों का भी विवरण तात्रिकता की पूरी छाप बतला रहा है। 'शिवपुराण' का यह रूप अनुक्रमणिका द्वारा प्रतिपादित वायुप्रोक्त पुराण के स्वरूप से एकदम भिन्न है, नितात पृथक् है। गया तथा रेवा के माहात्म्यपरक अंश भी एकदम अनुपस्थित हैं। इतना ही नहीं, इसका आविर्भावकाल भी वायुपुराण के पूर्वोक्त काल की अपेक्षा नितांत अर्वाचीन तथा अवांतर कालीन है।

६. शिवपुराण की अर्वाचीनता

शिवपुराण के काल का निर्णय बहिरंग तथा अंतरंग उभय साक्ष्य के आधार पर पर्याप्तरूपेण किया जा सकता है। तमिल देश में शिवपुराण प्राचीनकाल से लोकप्रिय है। इसका पूरा प्राचीन अनुवाद तमिल भाषा में तो आज उपलब्ध नहीं है, परंतु इसके तीन विशिष्ट आख्यानों का अनुवाद हस्तलिखित रूप में मिलता है जिनमें **शरभपुराण** (जिसमें शिव के शरभ रूप धारण करने की कथा का वर्णन है), उपलब्ध शिवपुराण (वेंकटेश्वर द्वारा प्रकाशित) की तृतीय (शतरुद्रिय) संहिता के १० से लेकर १२ वें अध्याय तक मिलता है तथा **दधीचिपुराण** शिवपुराण की द्वितीय (रुद्र) संहिता के द्वितीय खंड के ३८ – ३९ अध्यायों में मिलता है। इस तमिल अनुवाद के रचयिता तिरुमल्लैनाथ माने जाते हैं जिनका आविर्भाव-

काल १६वीं शती है।[13] अलबरूनी के भारतवर्णन ग्रंथ में शिवपुराण का नामोल्लेख पुराणों की सूची में निश्चित रूप से उपलब्ध होता है। इन्होंने पुराणों के नाम तथा विस्तार की दो सूचियाँ अपने पूर्वोक्त ग्रंथ में दी हैं—एक सूची में वायुपुराण का तथा दूसरी सूची में उसी स्थान पर शिवपुराण का नामनिर्देश इस तथ्य का प्रमाण है कि शिवपुराण की रचना १०३० ईस्वी से पूर्व ही संपन्न हो चुकी थी जब इस ग्रंथ का प्रणयन किया गया। यह तो हुआ बहिरंग साक्ष्य। शिवपुराण की अंतरंग परीक्षा से भी इस पुराण का कालनिर्णय सुशक्य है। कैलास संहिता के १६ – १७ वें अध्याय में प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धांतों का विशद प्रतिपादन किया गया है जिसमें '**शिवसूत्र**' के दो सूत्रों का तथा तत्संबद्ध '**वार्तिक**' का सुस्पष्ट निर्देश तथा उद्धरण है —

चैतन्यमात्मेति मुने शिवसूत्रं प्रवर्तितम्॥ ४४॥
चैतन्यमिति विश्वस्य सर्वज्ञान क्रियात्मकम्।
स्वातंत्र्यं तत्स्वभावो यः स आत्मा परिकीर्तितः॥ ४५॥
इत्यादि शिवसूत्राणां वार्तिकं कथितं मया।
ज्ञानं बन्ध इतीदं तु द्वितीयं सूत्रमीशितुः॥ ४६॥

— कैलास संहिता, अ० १६।

इस उद्धरण में दो शिवसूत्रों का उल्लेख है जिनमें **चैतन्यमात्मा** प्रथम शिवसूत्र है तथा **ज्ञानबंधः** दूसरा शिवसूत्र है। इतना ही नहीं, यहाँ शिवसूत्रों के **वार्तिक** का भी स्पष्ट उल्लेख है। 'शिवसूत्र' प्रत्यभिज्ञादर्शन का आदि ग्रंथ है जिसकी उपलब्धि का श्रेय आचार्य वसुगुप्त को दिया जाता है। काश्मीरी शैवाचार्यों का अविच्छिन्न संप्रदाय है कि भगवान् शंकर के स्वप्न में दिए गए आदेश के अनुसार वसुगुप्त को ये सूत्र (तीन उन्मेषों में विभक्त तथा संख्या में ७७) महादेव गिरि की चोटी पर किसी पत्थर के ढोके पर लिखे गए प्राप्त हुए थे, जो आजकल 'शंकर पल' (शंकर उपल) के नाम से प्रख्यात है। इन्हीं वसुगुप्त के शिष्य कल्लट थे जो अवंति वर्मा (८५३ ई० – ८८८ ई०) के राज्यकाल में महनीय सिद्ध पुरुष के अवतार माने जाते थे—कल्हण का ऐसा स्पष्ट कथन है।[14] शिष्य के समय से गुरु का समय भली भाँति अनुमानित किया जा सकता है। वसुगुप्त का समय इसी लिये ८०० ई० से लेकर ८२५ ई० के लगभग माना जाता है। 'शिवसूत्र' के ऊपर दो वार्तिक उपलब्ध हैं — १ - भास्कररचित तथा २ -

१३. पुराणम् (काशिराजन्यास से प्रकाशित) वर्ष २, जुलाई १९६०, पृष्ठ २२९ – २३०।

१४. कल्लटाद्याः सिद्धा भुवमवातरन्। — राजतरंगिणी

वरदराजप्रणीत। इनमें भास्कर कल्लट के संप्रदाय के अनुयायी थे तथा दोनों में चार पीढ़ियों का व्यवधान था।[१५] फलतः एक पीढ़ी के लिये पचीस साल का समय मानने से भास्कर का समय कल्लट के समय (८५० ई० लगभग) से सौ वर्ष पीछे (लगभग ९५० ई०) होना चाहिए। वरदराज का समय भास्कर से पचास वर्ष पीछे होना चाहिए, क्योंकि इन्होंने अभिनवगुप्त (९८० ई० – १०१५ ई०) के पट्टशिष्य क्षेमराज की शिवसूत्रवृत्ति के आधार पर अपने 'शिवसूत्र वार्तिक' का प्रणयन किया था। मेरी दृष्टि में शिवपुराण के पूर्वोक्त उद्धरण में भास्कर के शिवसूत्र वार्तिक का ही उल्लेख है। अलबरूनी (१०३० ई०) के द्वारा संकेतित होने से तथा भास्कररचित 'शिवसूत्र वार्तिक (रचनाकाल लगभग ८५० ई०) को उद्धृत करने के कारण शिवपुराण का समय दशम शती का अंत मानना सर्वथा न्याय्य प्रतीत होता है।

इस प्रकार दोनों पुराणों की तुलना करने पर वायुपुराण ही प्राचीन तथा निश्चय रूप से महापुराण है तथा शिवपुराण अर्वाचीन और तांत्रिकता से मंडित उपपुराण है। पूर्वोक्त प्रमाणों के साक्ष्य पर इस तथ्य पर संदेह करने का कोई अवकाश नहीं है।

परिशिष्ट

१

चिग्नेशं च तथा रौद्रं वैनायकमथौमिकम्।
मात्रं रुद्रैकादशकं कैलासं शतरुद्रकम्॥ ४९॥
कोटिरुद्रसहस्राद्यं कोटिरुद्रं तथैव च।
वायवीयं धर्मसंज्ञं पुराणमिति भेदतः॥ ५०॥
संहिता द्वादश मिता महापुण्यतरामताः।
तासां संख्या ब्रुवे विप्राः शृणुतादरतोऽखिलम्॥ ५१॥
विग्नेशं दशसाहस्रं रुद्रं वैनायकं तथा।
औमं मातृपुराणाख्यं प्रत्येकाष्टसहस्रकम्॥ ५२॥
त्रयोदश सहस्रं हि रुद्रैकादशकं द्विजाः।
षट् सहस्रं च कैलासं शतरुद्रं तदर्धकम्॥ ५३॥
कोटिरुद्रं त्रिगुणितमेकादशसहस्रकम्।
सहस्रकोटि रुद्राख्यमुदितं ग्रन्थसंख्यया॥ ५४॥

१५. शिवसूत्र वार्तिक का उपोद्घात् श्लो० ४ तथा ५॥

१६. महामाहेश्वरश्रीमत् – क्षेमराज मुखोद्गताम्॥ ४॥
अनुसृत्यैव सद्वृत्तिमञ्जसा क्रियते मया।
वार्तिकं शिवसूत्राणां वाक्यैरेवतदीरितैः॥ ५॥ — वार्तिक का आरंभ।

वायवीयं लाब्धिशतं धर्मं रविसहस्रकम् ।
तदेवं लक्षसंख्याकं शैवसंख्याविभेदतः ॥ ५५ ॥
—विद्येश्वर संहिता, अध्याय २ ।

२

अक्षरस्याऽऽत्मनश्चापि स्वात्मरूपतयास्थितम् ।
परमानन्दसन्दोहरूपमानन्दविग्रहम् ॥
लीलाविलासरसिकं वल्लवीयूथमध्यगम् ।
शिखिपिच्छकिरीटेन भास्वद्रत्नचितेन च ॥
उल्लसद्विद्युदाटोपकुण्डलाभ्यां विराजितम् ।
कर्णोपान्तचरन्नेत्रखञ्जरीटमनोहरम् ॥
कुञ्जकुञ्जप्रियावृन्दविलासरतिलम्पटम् ।
पीताम्बरधरं दिव्यं चन्दनालेपमण्डितम् ॥
अधरामृतसंसिक्तवेणुनादेन बल्लवीः ।
मोहयन्तं चिदानन्दमनङ्गमदभञ्जनम् ॥
कोटिकामकलापूर्णं कोटिचन्द्रांशुनिर्मलम् ।
त्रिरेकहृण्ठविलसद्रत्नगुञ्जामृगाकुलम् ॥
यमुनापुलिने तुङ्गे तमालवनकानने ।
कदम्बचम्पकाशोकपारिजातमनोहरे ॥
शिखिपरावतशुकपिककोलाहलाकुले ।
निरोधार्थं गवामेव धावमानमितस्ततः ॥
राधाविलासरसिकं कृष्णाख्यं पुरुषं परम् ।
श्रुतवानस्मि वेदेभ्यो यतस्तद्गोचरोऽभवत् ॥
एवं ब्रह्मणिचिन्मात्रे निर्गुणे भेदवर्जिते ।
गोलोकसञ्ज्ञकेकृष्णोदीव्यतीतिश्रुतं मया ॥
नातः परतरं किञ्चिन्निगमागमयोरपि ।
तथापि निगमो वक्ति ह्यक्षरात्परतः परः ॥
गोलोकवासी भगवानक्षरात्पर उच्यते ।
तस्मादपि परः कोऽसौ गीयते श्रुतिभिः सदा ॥
उद्दिष्टो वेदवचनैर्विशेषो ज्ञायते कथम् ।
श्रुतेर्वाऽर्थोऽन्यथाबोध्यः परतस्त्वक्षरादिति ॥
श्रुत्यर्थे संशयापन्नो व्यासः सत्यवतीसुतः ।
विचारयामास चिरं न प्रपेदे यथातथम् ॥
—वायुपुराण अ० १०४, श्लो० ४४ – ५५ ।

३

शृणु विप्र प्रवक्ष्यामि पुराणं वायवीयकम् ।
यस्मिन् श्रुते लभेद्धाम रुद्रस्य परमात्मनः ॥ १ ॥
चतुर्विंशतिसाहस्रं तत्पुराणं प्रकीर्तितम् ।
श्वेतकल्पप्रसंगेन धर्मानत्राह मारुतः ॥ २ ॥
तद्वायवीयमुदितं भागद्वयसमाचितम् ।
सर्गादिलक्षणं यत्र प्रोक्तं विप्र सविस्तरम् ॥ ३ ॥
मन्वन्तरेषु वंशाश्च राज्ञां ये यत्र कीर्तिताः ।
गयासुरस्य हननं विस्तराद्यत्र कीर्तितम् ॥ ४ ॥
मासाना चैव माहात्म्यं माघस्योक्तं फलाधिकम् ।
दानधर्मा राजधर्मा विस्तरेणोदितास्तथा ॥ ५ ॥
भूपतालककुब्व्योमचारिणा यत्र निर्णयः ।
व्रतादीना च पूर्वोऽयं विभागः समुदाहृतः ॥ ६ ॥
उत्तरे तस्य भागे तु नर्मदातीर्थवर्णनम् ।
शिवस्य संहितोक्ता वै विस्तरेण मुनीश्वर ॥ ७ ॥
संहितेयं महापुण्या शिवस्य परमात्मनः ।
नर्मदाचरितं यत्र वायुना परिकीर्तितम् ॥ ८ ॥--नारदपुराण

४

पुराणं यन्मयोक्तं हि चतुर्थं वायुसंज्ञितम् ।
चतुर्विंशतिसाहस्रं शिवमाहात्म्यसयुतम् ॥ ९ ॥
महिमानं शिवस्याह पूर्वे पाराशरः पुरा ।
अपरार्द्धे तु रेवाया माहात्म्यमतुलं मुने ॥ १० ॥
पुराणेपूत्तरं प्राहुः पुराणं वायुनोदितम् ।
शिवभक्तिसमायोगान्नमद्वयविभूषितम् ॥११॥—रेवामाहात्म्य

५

श्वेतकल्पप्रसंगेन धर्मान्वायुरिहाब्रवीत् ।
यत्र यद्वायवीयं स्याद्रुद्रमाहात्म्यसंयुतम् ॥ १२ ॥
चतुर्विंशत्सहस्राणि पुराणं तदिहोच्यते ॥ —मत्स्यपुराण

६

प्रवक्ष्यामि परमं पुण्यं पुराणं वेदसम्मितम् ।
शिवज्ञानार्णवं साक्षाद् भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥
शब्दार्थन्यायसंयुक्तैरागमार्थैर्विभूषितम् ।
श्वेतकल्पप्रसंगेन वायुना कथितं पुरा ॥ —वायुसंहिता

*

पुरु (पोरस) का वंश

दिङ्नाग दीनबंधु

•

यूनानी इतिहासलेखकों ने तक्षशिला राज्य के दक्षिण पूर्व झेलम चिनाब के दोआब के शासक को 'पोरस' (पोरस=Poros या Porus = पोर (उ) स अथवा पोर (अ) (स) अभिहित किया है जिसने सिकंदर को चुनौती दी और उसके विजयप्रवाह को अवरुद्ध किया। 'पोरस' के पूर्व-दक्षिण रावी तक विस्तृत 'छोटे पोरस' का राज्य था। 'छोटा पोरस' पोरस का भतीजा कहा गया है जिससे पोरस की पुरानी दुश्मनी थी।[1]

पोरस नाम के इन दो शासकों तथा इनके आपसी संबंध के उल्लेख से यह निश्चित है कि 'पोरस' व्यक्तिविशेष का नाम नहीं वरन् उस वंश का द्योतक है जिसमें झेलम चिनाब और चिनाब रावी के दोआबों के शासक उत्पन्न हुए थे।[2]

यूनानियों ने विदेशी नामों को उनके तद्भव (या और अधिक विकृत) रूपों के अंत में 'स', 'अस', 'इस', 'ऑइ' आदि जोड़कर उल्लिखित किया है। इनमें से 'स' और 'अस', 'इस' का संबंध वंश और व्यक्तिनाम से तथा 'ऑइ' का संबंध जाति नाम से है।[3] अतः यूनानियों द्वारा दिए गए नामों में से अंत के अक्षर को हटा दें तो तत्कालीन नामों की कल्पना की जा सकती है। इस प्रकार 'पोरस' (पोरॉस) का 'पोर (पोरॉ)' या इसके पास के उच्चारण का ही कोई शब्द तत्कालीन जनभाषा में रहा होगा। सिकंदर के आक्रमण के समय भारत की जनभाषा पाली या प्राकृत थी। संभवतः 'पोरउ' शब्द उस समय उच्चारण में था जिसे यूनानियों ने 'पोरॉ (स)' उच्चरित किया। पोरउ, पोरव का बिगड़ा रूप है और पोरव, पौरव का।[4] शब्दों के माध्यम से 'पोरस' तत्सम शब्द पौरव का यूनानी रूप सिद्ध होता है।[5]

प्रो० लैसन ने पोरस को पौरववंशी अनुमानित किया था जिसे इतिहासविदों ने स्वीकार किया है।[6]

निबंध की समस्त टिप्पणियाँ अंत में दी गई हैं। —संपादक

सिकंदर के आक्रमण के आसपास के भारतीय ग्रंथों में पौरवों का कहीं उल्लेख नहीं है, किंतु तत्कालीन साहित्य में उल्लिखित न होना ही अनस्तित्व का प्रमाण नहीं माना जा सकता। संभव है यह उपेक्षा पश्चिमोत्तर भारत की विघटित राजनीतिक सत्ताओं के कारण रही। सिकंदर के आक्रमणकाल की अनेक सत्ताओं की पहचान प्राचीन भारतीय ग्रंथों के आधार पर की गई है जिनमें उनका उल्लेख प्राप्त होता है। प्राचीन ग्रंथों में पौरव भी उल्लिखित हैं, किंतु ऐतिहासिक स्पष्टीकरण की दृष्टि से इनका उल्लेख भ्रामक है।

महाभारत में पौरवों को दो स्थानों पर शासक निर्देशित किया गया है। प्रथम तो संपूर्ण महाभारत उन पौरववंशियों के चरित्र का आख्यान करता है जो हस्तिनापुर के शासक हैं।[७] दूसरे, अर्जुन अपनी दिग्विजय यात्रा में एक पौरव राज्य की राजनगरी (पुर पौरव रक्षितम्) को विजित करते हैं।[८] अर्जुन द्वारा विजित पौरवों की स्थिति वही सिद्ध होती है जो सिकंदर के आक्रमणकालीन पौरव की है।[९]

इतिहासविदों का मंतव्य है कि पौरव अपने हस्तिनापुर के इतिहास के पूर्व कुरुओं में अपना अस्तित्व विलय कर चुके थे।[१०] महाभारत में भी हस्तिनापुर के पौरवों के वंशपरिचय में पौरवों का संबंध कई वंशों से उल्लिखित है।[११] अतः हस्तिनापुर के पौरवों का संबंध मूल पौरव वंश से काफी दूर चला जाता है। महाभारत काल के पूर्व ही पौरव संभवतः अपने मूल निवासस्थान से भिन्न दिशाओं में बिखर चुके थे।[१२] इस बिखराव में कुछ अपने मूल निवास तथा उसके आसपास ही रहे होंगे। अर्जुन द्वारा विजित पौरवों का संबंध इन मूल पौरवों से अनुमानित किया जा सकता है। स्पष्ट है कि पश्चिमोत्तर भारत के पौरवों की स्थिति ढुलमुल रही है जो सिकंदर के आक्रमण के कुछ पूर्व पुरु (पोरस) के नेतृत्व में सुधर रही थी।[१३]

स्पष्ट है कि पौरवों की दो शाखाएँ रहीं। इन शाखाओं का बिलगाव महाभारत में वर्णित पौरववंश के आधार पर भरत, अजमीढ या कुरु के काल से अनुमानित किया जा सकता है। पौरवों के बिलगाव से पोरस तक की वंशावली का ज्ञान संभव नहीं दीखता। सिकंदर के आक्रमणकालीन पौरवों के वंश के अध्ययन के लिये हस्तिनापुर की पौरव वंशपरंपरा ही आधार है जिसकी किसी पीढ़ी में इनका अस्तित्व विलग हुआ होगा।

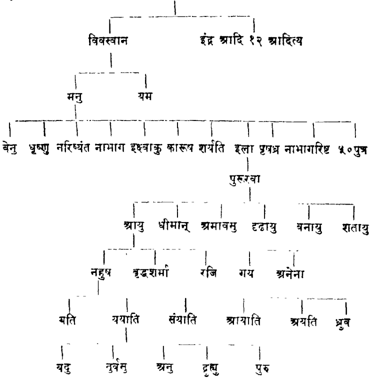
महाभारत में पौरव वंश का आरंभ ययाति पुत्र पूरु (पुरु) से माना गया है।[१४] पूरु (पुरु) और पूरुओ (पौरवो) का उल्लेख ऋग्वेद में भी प्राप्त है।[१५] वैदिक परंपरा में पौरव राजकुमारों की वंशपरंपरा निम्नलिखित मानी गई है[१६]—

दुर्गह
|
गिरिरक्षित
|
पुरुकुत्स
|
त्रसदस्यु — तृक्षि
मित्रातिथि — कुरुश्रवण — उपश्रवस
त्र्यरुण और त्रिवृषय (या विधातु)

महाभारत में पूरु (पुरु) को ययाति का पुत्र कहा गया है।[१७] वैदिक परंपरा में ययाति और पुरु का कोई संबंध ज्ञात नहीं हो पाता।[१८] महाभारत में ययाति ने न्यायपूर्वक पुरु को राज्याभिषिक्त किया है[१९] और पुरु के भाई यदु, अणु, तुर्वसु और द्रुह्यु के वंश चलने की बात कही गई है।[२०] ययाति-पुरु की कथा में पुरु के भाइयों के वंश चलने का उल्लेख संभवतः ऋग्वेद में अणु, द्रुह्यु, तुर्वसु, यदु और पुरु राजाओं के उल्लेख के कारण है जो सप्तसिंधु के पाँच जनों के शासक थे।[२१] महाभारत ने ययाति को ऋग्वेद के अनुसार ही ग्रहण किया है। दोनों ही ग्रंथों में ययाति को नहुष का पुत्र कहा गया है।[२२] ययाति एवं पंचजनों का जो उल्लेख इन ग्रंथों में प्राप्त होता है वह ऐतिहासिक तथ्य लिए है, किंतु इनका आपसी संबंध कल्पित कथा द्वारा जोड़ा गया जान पड़ता है।[२३] ययाति से कथा का यह गठबंधन संभव है पांडवों को दक्षप्रजापति से संबंधित करने के लिये किया गया। ययाति तक इस वंश का वर्णन इस प्रकार कहा गया है।[२४] —

प्रचेता
|
१० पुत्र
|
प्राचेतस दक्ष
|
१०० पुत्र
५० कन्याएँ
|

(१० कन्याएँ धर्म से, १३ कन्याएँ कश्यप से तथा २७ चंद्रमा से विवाहित)



ययाति के बाद महाभारत के अनुसार उनका प्रिय पुत्र पूरु (पुरु) सिंहासनारूढ़ हुआ और पुरु से ही पौरव वंश का विस्तार हुआ। महाभारत में दो स्थानों पर वर्णित पौरव वंश का विस्तार करनेवालों के नामों में बहुत अंतर है, उनकी पत्नियों के नामों में तो और अधिक अंतर है।[२५] पुरु के पुत्र एक स्थान पर तीन कहे गए हैं, दूसरी जगह केवल एक ही कहा गया है जो प्रथम वर्णित तीनों से भिन्न है। पुरु की पत्नी का नाम भी इन स्थानों में क्रमशः पौष्टी तथा कौसल्या कहा गया है। इन दोनों उल्लेखों के आधार पर पौरव वंश की कड़ियों की ऐतिहासिकता सिद्ध करना कठिन है, किंतु हस्तिनापुर के पौरवों तक इस परंपरा का विस्तार मान्य होना चाहिए।

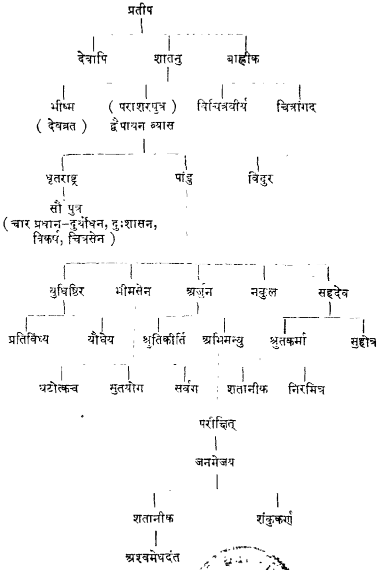
महाभारत में वर्णित पूरु वंश (पौरव वंश)—आदिपर्व, अध्या० ९४ के अनुसार[२६] इस प्रकार है—

आदिपर्व अध्याय ९५ के अनुसार[२७]—

दक्ष
|
अदिति
|
विवस्वान
|
इला
|
पुरूरवा
|
आयु
|
नहुष
|
ययाति
|
यदु तुर्वसु अनु द्रुह्यु पुरु

पुरु
|
जनमेजय
|
प्राचिन्वान्
|
संयाति
|
अहंयाति
|
सार्वभौम
|
जयत्सेन
|
अवाचीन
|
अरिह
|
महाभौम
|
अयुतनायी
|
अक्रोधन
|

देवातिथि
|
अरिह
|
ऋच
|
मतिनार
|
तंसु
|
ईलिन्
|
दुष्यंत आदि ५ पुत्र
|
भरत
|
भुमन्यु
|
सुहोत्र
|
हस्ती
|
विकुंठन
|
अजमीढ
|
- संवरण
  |
  कुरु
  |
  विदूर
  |
  अनश्वा
  |
  परीक्षित्
  |
  भीमसेन
  |
  प्रतिश्रवा
- अन्य १२३ पुत्र पृथक् पृथक् वंश के प्रवर्तक



महाभारत में एक अन्य पौरव राजा का भी उल्लेख है जो अपनी दानशीलता के लिये प्रख्यात था,[२८] संभवतः इसी प्रख्यात राजा को शरभ नामक राक्षस का अवतार कहा गया है।[२९]

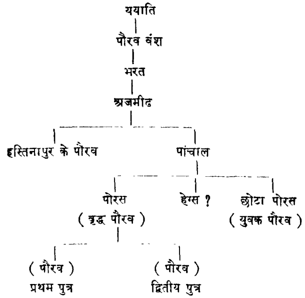
ऊपर की दोनों सूचियों में बहुत कम नामों में साम्य है। दोनों सूचियों में वंशपरंपरा को विस्तार देनेवाले भी भिन्न पीढ़ियों में भिन्न-भिन्न हैं। पहली सूची पुरु से शातनु तक और दूसरी दत्त से अश्वमेधदंत तक है। पुरु से शातनु तक पहली सूची में कुल १८ वंशविस्तारकों के नाम हैं, दूसरी सूची में पुरु से शातनु तक वंशविस्तारकों की संख्या ३४ है। इन सूचियों के आधार पर पौरव-वंशपरंपरा का निर्धारण कठिन है। ऐतिहासिक दृष्टि से इन सूचियों में दी गई निम्नलिखित वंश-प्रवर्तन-परंपरा को महत्व दिया जा सकता है जो दोनों में समान है—

पौरव	आदिपर्व, अध्याय, ९४ ; ९५	
|		
भरत	,,	९४।१६ ; ९५।१०
|		
अजमीढ	,,	९४।३१,४८ ; ९५।३०–३१
|		
कौरव	,,	९४।४६ ; ९५।३७
|		
पाडव		

सिकंदर के आक्रमणकालीन पौरवों की अलग शाखा को पौरव वंश के किसी पीढ़ी-काल से अलग कर सकना संभव नहीं है। अनुमानतः ये कौरवों के पूर्व ही विलग हो गए थे क्योंकि अजमीढ के दुष्यंत और परमेष्ठी नामक पुत्रों को पांचालो का वंशप्रवर्तक कहा गया है।[30] इन पाञ्चालों का संबंध पश्चिमोत्तर भारत के पौरवों से जोड़ा जा सकता है।

प्लूतार्क ने पोरस (पुरु) के पितामह का नाम जिजेसियस कहा है जिसका संबंध ययाति (जजाति) से जोड़ा जा सकता है।[31] ययाति के बाद 'पोरस' (वृद्ध पौरव) और 'छोटे पोरस' (युवक पौरव) का स्पष्ट उल्लेख है।[32] कर्टियस ने पोरस के भाई का नाम 'हेग्स' उल्लिखित किया है जो सिकंदर को रोकने के लिये पुरु के शिविर से १७ मील उत्तर गया था।[33] अन्य यूनानी इतिहास लेखकों के अनुसार सिकंदर का यह प्रतिरोधक पुरु का पुत्र था। पुरु के दो पुत्र कहे गए हैं जिनके नाम का उल्लेख प्राप्त नहीं होता।[34]

इन विवरणों के आधार पर पुरु (पोरस) की वंशपरंपरा निम्नलिखित सिद्ध होती है—



चौथी शताब्दी ई० पू० के बाद इस वंश के विषय में इतिहास मौन है।

पादटिप्पणियाँ

१. एरियन, एनाबसीस, ५वीं पुस्तक, अध्याय २१।

२. इस तथ्य के सर्वप्रथम उद्घाटक प्रो० लैसन हैं।

३. वंशनाम —
तक्सिलीस (तक्षशिली); सोफाइतीस (सौभूति); पोरस (पौरव)।
व्यक्तिनाम —
आम्फिस (आंभि); सैंड्रोकोत्तस (चंद्रगुप्त); देरियस (दारा)।

जातिनाम —

केकॉइ (केकय); कठॉइ (कठ); ग्लाचुकॉइ (ग्लुचुकायन); एड्रास्टॉइ (आर्दिजन); शिबॉइ (शिबि); अग्लसॉइ (अग्रश्रेणि); आक्सड्रकॉइ (क्षुद्रक); मलॉइ (मालव); एवस्नॉइ (अंबष्ठ); शोडरॉइ (शौद्रेय) आदि ।

अधिकांश जातिनाम 'ऑइ' से ही अंत होते हैं। कुछ नाम भिन्न अकरांत भी हैं, जैसे—मुसिकनी (मुचिकर्ण), ब्रचमन (ब्राह्मण) आदि ।

४. कोशों में 'पौरव' का प्राकृत रूप 'पोरव' दिया गया है, द्रष्टव्य - पाइअसद्-महण्णवो। पोरव के 'पोरउ' रूप के लिये लोकभाषा का सहारा लिया गया है जहाँ 'व' के स्थान पर 'उ' रूपांतर अनेक शब्दों में प्राप्त है; 'देव' शब्द का बिगड़ा रूप 'दउ' (या देउ) इस ढंग का एक उदाहरण है ।

५. हिंदी शब्दसागर तथा संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी : मोनियर विलियम्स ।

६. नीलकंठ शास्त्री — दि एज आव नंदाज ऐंड मौर्याज; राय चौधरी — दि पोलिटिकल हिस्ट्री आव एशियेंट इंडिया; हरिश्चंद्र सेठ — आइडेंटीफिकेशन आव् पर्वतक ऐंड पोरस; अय्यंगर तथा चौधरी —एडवांस हिस्ट्री आव् इंडिया; राधाकुमुद मुकर्जी – हिंदू सभ्यता; विंसेंट ए० स्मिथ —अर्ली हिस्ट्री आव् इंडिया; मैकुंडल - इनवेजन आव् इंडिया बाइ अलेक्जेंडर ।

७. जनमेजय उवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि पूरोर्वंशकरान् नृपान् ।
यद्वीर्यान् यादृशांश्चापि यावतो यत्पराक्रमान् ॥

महाभारत, आदि० ।९४।१

वैशम्पायन उवाच

शृणु राजन् पुरा सम्यङ्मया द्वैपायनाच्छ्रुतम् ।
प्रोच्यमानमिदं कृत्स्नं स्ववंशं जनन शुभम् ॥

—महाभारत, आदि० ९०।६

८. विजित्य चाहवे शूरान् पर्वतीयान् महारथान् ।
जिगाय सेनया राजन् पुरं पौरव रक्षितम् ॥

वही, सभा० २७।१५

९. द्रष्टव्य, लेखक का निबंध 'पुरु के देश का ऐतिहासिक भूगोल' ।

१०. कैंब्रिज हिस्ट्री आव् इंडिया, पृष्ठ ८१ । लेक्चर्स आन एंशियंट इंडियन हिस्ट्री — भंडारकर, पृष्ठ ५८ ।
एडवांस हिस्ट्री आव् इंडिया, पृष्ठ ४८ में पौरववंश को दुष्यंत के पूर्व ही समाप्त माना गया है ।

११. आदिपर्व, अध्याय ४३, ६० ।
१२. वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृष्ठ १२ ।
१३. वही ।
१४. त्वया दायादवानास्मि त्वं मे वंशकरः सुतः ।
पौरवो वंश इति ते ख्यातिं लोके गमिष्यति ॥ ७५ । २६ ।
यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोर्यवनः स्मृताः ।
द्रुह्योः सुतास्तु वै भोजाः अनोस्तु म्लेच्छ जातयः ॥ ८५ । ३४ ।
पूरोस्तु पौरवो वंशे यत्र जातोऽसि पार्थिव ।८५।३५ ।
यत्र यदोर्यादवा पूरोः पौरवाः ॥ ६५ । १० — महाभारत, आदिपर्व ।
१५. प्र वो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम् ।
अग्निं सूक्तेभिर्वचोभिरीमहे यं सीमिदन्य ईळते ॥ऋ० १।३६।१।
प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते ।
वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत ॥ ऋ० १।५६।६।
त्वं ह त्यदिन्द्र सप्त युध्यन्पुरो वज्रिन्पुरुकुत्साय दर्दः ।
बर्हिर्न यत्सुदासे वृथा वर्गंहो राजन्वरिवः पूरवे कः ॥ ऋ० १।६३।७।
भिनत्पुरो नवतिमिन्द्र पूरवे दिवोदासाय ।
महि दाशुषे नृतो वज्रेण दाशुषे नृतो ।
अतिथिग्वाय शम्बरं गिरेरुग्रो अवाभरत् ।
महो धनानि दयमान ओजसा विश्वा धनान्योजसा ॥ ऋ० १।१३०।७।
विदुष्टे अस्य वीर्यस्य पूरवः पुरो यदिन्द्र ।
शारदीरवातिरः सासहानो अवातिरः ।
शासस्तमिन्द्र मर्त्यमयज्युं शवसस्पते ।
महीम मुष्णाः पृथ्वीमिमा अपो मन्दसान इमा अपः ॥ ऋ० १।१३१।४ ।
यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद्द्रुह्युष्वनुषु पूरुष स्थः ।
अतः परि वृषणावा हि यातमथा सोमस्य पिबत सुतस्य ॥ ऋ० १।१०८।८ ।
उतो हि वां दात्रा सन्ति पूर्वा या पूरुभ्यस्त्रसदस्युर्नितोशे ।
क्षेत्रासां ददथुरुर्वरासां घनं दस्युभ्यो अभिभूतिमुग्रम् ॥ ऋ० ४।३८।१ ।
एवा वस्व इन्द्रः सत्यः सम्राड्ढन्ता वृत्रं वरिवः पूरवे कः ।
पुरुष्टुत क्रत्वा नः शग्धि रायो भक्षीय तेऽवसो दैव्यस्य ॥ ऋ० ४।२१।१० ।
सनेम तेऽवसा नव्य इन्द्र प्र पूरवः स्तवन्त एना यज्ञैः ।
सप्त यत्पुरः शर्म शारदीर्दर्द्धन्दासीः पुरुकुत्साय शिक्षन् ॥ ऋ० ६।२०।१० ।
त्वद्भिया विश आयन्नसिक्नीरसमना जहतीर्भोजनानि ।
वैश्वानर पूरवे शोशुचानः पुरो यदग्ने दरयन्नदीदेः ॥ ऋ० ७।५।३ ।
प्रपायमग्निर्भरतस्य शृण्वे वि यत्सूर्यो न रोचते बृहद्भाः ।

अभि यः पूरुं पृतनासु तस्थौ द्युतानो दैव्यो अतिथिः शुशोच ॥ ऋ० ७।८।४।
वि सद्यो विश्वा दृंहितान्येषामिन्द्रः पुरः सहसा सप्त दर्दः।
व्यानवस्य तृत्सवे गयं भाग्जेष्म पूरुं विदथे मृध्रवाचम् ॥ ऋ० ७।१८।१३।
त्वं धृष्णो धृषता वीतहव्यं प्रावो विश्वाभिरूतिभिः सुदासम्।
प्र पौरुकुत्सिं त्रसदस्युमावः क्षेत्रसाता वृत्रहत्येषु पूरुम् ॥ ऋ० ७।१९।३।
उभे यत्ते महिना शुभ्रे अन्धसी अधिक्षियन्ति पूरवः।
सा नो बोध्यवित्री मरुत्सखा चोद राधो मघोनाम् ॥ ऋ० ७।९६।२ तथा
१।१२९।५; ४।३८।१; ५।१७।१; ६।४६।८; १०।४।१; १०।४८।५ ऋचाएँ।

१६. कैंब्रिज हिस्ट्री आव् इंडिया, पृ० ८३।

१७. ···ययातेर्द्वे भार्ये बभूवतुः ॥ ७ ।
यदुं च तुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत।
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ॥ ९ ॥ महाभारत, आदिपर्व ९५।

१८. वैदिक इंडेक्स (पृ० १८७) में ययाति और पूरु (पुरु) के पिता-पुत्र संबंध को गलत कहा गया है।

१९. पौरजानपदैस्तुष्टैरित्युक्तो नाहुषस्तदा।
अभ्यषिञ्चत् ततः पूरुं राज्ये स्वे सुतमात्मनः ॥ महाभारत, आदिपर्व, ८५।३२।

२०. यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोर्यवनः स्मृताः।
द्रुह्योः सुतास्तु वै भोजाः अनोस्तु म्लेच्छ जातयः ॥ वही. ८५।३४।

२१. यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद्द्रुह्युष्वनुषु पूरुषु स्थः।
अतः परिवृषणावा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य ॥ ऋ० १।१०८।८।
द्रष्टव्य, ऋ० ७।१०।५ जहाँ इन्हें पंचजनों का शासक कहा गया है।
(ऋग्वेदिक आर्य — राहुल सांकृत्यायन, ऋग्वेदिक आर्यों की भूमि)।

२२. परावतो ये दिधिषन्त आप्यं मनुप्रीतासो जनिमा विवस्वतः।
ययातेर्ये नहुषस्य बर्हिषि देवा आसते ते अधि ब्रुवन्तु नः ॥ ऋ० १०।६३।१।
यतिं ययातिं संयातिमायातिमयतिं ध्रुवम् ।७५।३०।
नहुषो जनयामास षट् सुतान् प्रियवादिनः ।७५।३१।
ययातिरस्मि नहुषस्य पुत्र. ··· ··· ।८३.२१।
··· नहुषाद् ययातिः ··· ··· ।९५।७। महाभारत, आदिपर्व।

२३. ययाति की कथा इस प्रकार है—
'राजा नहुष के पुत्र जो चंद्रवंश के ५ वें राजा थे······और जिनका विवाह शुक्राचार्य की कन्या देवयानी के साथ हुआ था। इनको देवयानी के गर्भ से यदु और तुर्वसु नाम के दो तथा शर्मिष्ठा के गर्भ से द्रुह्यु, अणु और पुरु नाम के तीन पुत्र हुए थे। इनमें से यदु से यादव वंश, पुरु से पौरव वंश का आरंभ हुआ। शर्मिष्ठा इन्हें विवाह के दहेज में मिली थी। शुक्राचार्य ने इन्हें

कह दिया था, शर्मिष्ठा के साथ संभोग न करना, पर जब शर्मिष्ठा ने ऋतुमती होने पर इनसे ऋतुरक्षा की प्रार्थना की, तब इन्होंने उसके साथ संभोग किया और उसे संतान हुई। इस पर शुक्राचार्य ने इन्हें शाप दिया कि तुम्हें शीघ्र बुढ़ापा आ जायगा। जब इन्होंने शुक्राचार्य को संभोग का कारण बताया तब उन्होंने कहा कि यदि कोई तुम्हारा बुढ़ापा ले लेगा तो तुम फिर ज्यों के त्यों हो जाओगे।...पुरु ने उनका बुढ़ापा ले लिया।...अंत में पुरु को राज्य देकर आप वन में जाकर तपस्या करने लगे, अंत में स्वर्ग चले गए।'

—हिंदी शब्दसागर, खंड ४, पृष्ठ २८१०।

यह कथा प्राचीन काल में लोक में बहुत प्रचलित रही। ययाति की कथा कहनेवाले लोग थे, उन्हें 'यायातिक' कहते थे। ययाति की कथा की पुस्तक भी प्रचलित ज्ञात होती है, इस कथाग्रंथ को 'यायात' कहते थे। (द्रष्टव्य, पाणिनिकालीन भारतवर्ष—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, यायातिक और यायात शब्द, पृष्ठ २११ तथा १०२)।

२४. दश प्राचेतसः पुत्राः सन्तः पुण्य जनाः स्मृताः।
मुखजेनाग्निना यैस्ते पूर्वं दग्धा महीरुहाः॥ ४॥
तेभ्यः प्राचेतसो जज्ञे दक्षो दक्षादिमाः प्रजाः।
सम्भूताः पुरुष व्याघ्रः स हि लोके पितामहः॥ ५॥
वीरिण्या सह संगम्य दक्षः प्राचेतसो मुनिः।
आत्म तुल्यानजनयत् सहस्रं संशित व्रतान्॥ ६॥
ततः पञ्चाशतं कन्या पुत्रिका अभिसंदधे।
प्रजापतिः प्रजा दक्षः सिसृक्षुर्जनमेजय॥ ८॥
ददौ दश स धर्माय कश्यपाय त्रयोदश।
कालस्य नयने युक्ताः सप्तविंशतिमिन्दवे॥ ६॥
त्रयोदशानां पत्नीनां यातु दाक्षायणी वरा।
मारीचः कश्यपस्तस्यामादित्यान् समजीजनत्॥ १०॥
इन्द्रादीन् वीर्यसम्पन्नान् विवस्वन्तमथापि च॥१०½॥
विवस्वतः सुतो जज्ञे यमो वैवस्वतः प्रभुः॥ ११॥
मार्तण्डस्य मनुर्धीमान् जायत सुतः प्रभुः।
यमश्चापि सुतो जज्ञे ख्यातस्तस्यानुजः प्रभुः॥ १२॥
वेनुं धृष्णुं नरिष्वन्तं नाभागेक्ष्वाकुमेव च॥ १५॥
कारूषमथ शर्यातिं तथा चैवाष्टमीमिलाम्।
पृषध्रं नवमं प्राहुः क्षत्रधर्म परायणम्॥ १६॥
नाभागारिष्टदशमान् मनोः पुत्रान् प्रचक्षते।
पञ्चाशत् तु मनोः पुत्रास्तथैवान्येऽभवन् क्षितौ॥ १७॥

पुरूरवास्ततो विद्वानिलायां समपद्यत ॥ १८ ॥
षट् सुता जज्ञिरे चैलादायुर्धीमानमावसुः ॥ २४ ॥
दृढ़ायुश्च वनायुश्च शतायुश्चोर्वशी सुताः ।
नहुषं वृद्धशर्माणं रजिं गयमनेनसम् ॥ २५ ॥
यतिं ययातिं संयातिमायातिमयतिं ध्रुवम् ॥ ३० ॥
नहुषो जनयामास षट् सुतान् प्रियवादिनः ॥३०½॥
देवन्यायामजायेतां यदुस्तुर्वसुरेव च ।
द्रुह्युश्चानुश्च पूरुश्च शर्मिष्ठायां च जज्ञिरे ॥ ३५ ॥

—महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ७५ ।

२१. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ६४. ६५ ।

२६. प्रवीरेश्वररौद्राश्वास्त्रयः पुत्राः महारथाः ।
पूरोः पौष्ट्यामजायन्त प्रवीरो वंशकृतः ततः ॥ ५ ॥
मनस्युरभवत् तस्माच्छूरसेनो सुतः प्रभुः ॥५½॥
शक्तः संहननो वाग्मी सौवीरी तनयास्त्रयः ।
मनस्योरभवन् पुत्राः शूराः सर्वे महारथाः ॥ ७ ॥
अन्वग्भानुप्रभृतयो मिश्रकेश्यां मनस्विनः ।
रौद्राश्वस्य महेष्वासा दशाप्सरसि सूनवः ॥ ८ ॥
ऋचेयुरथ कक्षेयु कृकणेयुश्च वीर्यवान् ।
स्थण्डिलेयुर्वनेयुश्च जलेयुश्च महारथाः ॥ १० ॥
तेजेयुर्बलवान् धीमान् सत्येयुश्चेन्द्र विक्रमः ।
धर्मेयुः संतनेयुश्च दशमो देव विक्रमः ॥ ११ ॥
अनाधृष्टिरभूत् तेषां विद्वान् भुवि तथैकराट् ॥११½ ॥
अनाधृष्टि सुतस्त्वासीद् राजसूयाश्वमेधकृत् ।
मतिनार इति ख्यातो राजा परम धार्मिकः ॥ १३ ॥
मतिनार सुता राजंश्चत्वारोऽमितविक्रमाः ।
तं सुर्महानतिरथो द्रुह्युश्चाप्रतिमद्युतिः ॥ १४ ॥
तेषां तंसुर्महावीर्य पौरवं वंशमुद्वहन् ॥१४½॥
ईलिनं तु सुतं तंसुर्जनयामास वीर्यवान् ॥१५½॥
ईलिनो जनयामास दुष्यन्त प्रभृतीन् नृपान् ॥ १७ ॥
दुष्यन्तं शूर भीमौ च प्रवसुं वसुमेव च ।
तेषां श्रेष्ठोऽभवद् राजा दुष्यन्तो जनमेजय ॥ १८ ॥
दुष्यन्ताद् भरतो जज्ञे विद्वाञ्छाकुन्तलो नृपः ॥१८½॥
भरतस्तिसृषु स्त्रीषु नव पुत्रानजीजनत् ॥१९½॥

लेभे पुत्रं भरद्वाजाद् भुमन्युं नाम भारत ॥ २२ ॥
ततो दिविरथो नाम भुमन्योरभवत् सुतः ।
सुहोत्रश्च सुहोता च सुहविः सुयजुस्तथा ॥ २४ ॥
पुष्करण्यामृचीकस्य भुवन्योरभवन् सुताः ।
तेषां ज्येष्ठः सुहोत्रस्तु राज्यमाप महीक्षितम् ॥ २५ ॥
ऐक्ष्वाकी जनयामास सुहोत्रात् पृथ्वीपतेः ।
अजमीढं च सुमीढं च पुरुमीढं च भारत ॥ ३० ॥
अजमीढो वरस्तेषां तस्मिन् वंशः प्रतिष्ठितः ।
षट् पुत्रान् सोऽप्यजनयत तिसृषु स्त्रीषु भारत ॥ ३१ ॥
ऋक्षं धूमिन्यथो नील्ली दुष्यन्त परमेष्ठिनौ ।
केशिन्यजनयज्जह्नु सुतौ व्रजन रूपिणौ ॥ ३२ ॥
तथेमे सर्व पाञ्चालाः दुष्यन्तपरमेष्ठिनोः ।
अन्वयाः कुशिका राजन् जह्नोरमित तेजसः ॥ ३३ ॥
व्रजनरूपिणयोर्ज्येष्ठमृक्षमाहुर्जनाधिपम् ।
ऋक्षात् संवरणो जज्ञे राजन् वंशकरः सुतः ॥ ३४ ॥
ततः संवरणात् सौरी तपती सुषवे कुरुम् ॥ ४८ ॥
राजत्वे तं प्रजाः सर्वा धर्मज्ञ इति वव्रिरे ॥४८½॥
अश्ववन्तमभिष्यन्तं तथा चैत्ररथं मुनिम् ॥ ५० ॥
अवीक्षितः परीक्षित् तु शबलाश्वस्तु वीर्यवान् ।
आदिराज विराजश्च शाल्मलिश्च महाबलः ॥ ५२ ॥
उच्चैःश्रवा भङ्कारो जितारिश्चाष्मः स्मृतः ।
एतेषामन्ववाये तु ख्यातास्ते कर्मजैर्गुणैः ।
जनमेजयादयः सप्त तथैवान्ये महारथाः ॥ ५३ ॥
परीक्षितोऽभवन् पुत्राः सर्वे धर्मार्थकोविदाः ।
कक्षसेनोग्रसेनौ तु चित्रसेनश्च वीर्यवान् ॥ ५४ ॥
इन्द्रसेनः सुषेणश्च भीमसेनश्च नामतः ॥५४½॥
जनमेजयस्यतनया भुविख्याता महाबलाः ॥ ५५ ॥
धृतराष्ट्रः प्रथमजः पाण्डुर्बाह्लीक एव च ।
निषधश्च महातेजास्तथा जाम्बूनदो बली ॥ ५६ ॥
कुण्डोदरः पदातिश्च वसातिश्चाष्टमः स्मृतः ।
सर्वे धर्मार्थ कुशलाः सर्वभूत हिते रताः ॥ ५७ ॥
धृतराष्ट्रोऽथ राजाऽऽसीत् तस्य पुत्रोऽथ कुण्डिकः ।
हस्ती वितर्कः क्राथश्च कुण्डिनश्चापि पंचमः ॥ ५८ ॥

हविश्रवास्तथेन्द्राभो भुमन्युश्चापराजितः ।
धृतराष्ट्र सुतानां तु त्रीनेतान् प्रथितान् भुवि ॥ ५९ ॥
प्रतीपं धर्मनेत्रं च सुनेत्रं चापि भारत ।
प्रतीपः प्रतिथस्तेषां बभूवाप्रतिमो भुवि ॥ ६० ॥
प्रतीपस्य त्रयः पुत्रा जज्ञिरे भरतर्षभ ।
देवापिः शान्तनुश्चैव बाह्लीकश्च महारथाः ॥ ६१ ॥
शान्तनुश्च महीक्षिमे बाह्लीकश्च महारथः ॥ ६२ ॥ वही, अ० ६४ ।

१७. दक्षाददितिरदितेर्विवस्वान् विवस्वतो मनुमनोरिला इलायाः पुरूरवाः पुरूरवस आयुरायुषो नहुषो नहुषाद् ययातिः; ययातेर्द्वे भार्ये बभूवतुः ॥ ७ ॥

यदुं च तुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत ।
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ॥ ८ ॥
तत्र यदोर्यादवाः पूरोः पौरवाः ॥ १० ॥

पूरोस्तु भार्या कौशल्या नाम । तस्यामस्य जज्ञे जनमेजयो नाम, ''' ॥११॥
जनमेजयः खल्वनन्तां नामोपयेमे माधवीम् । तस्यामस्य जज्ञे प्राचिन्वान् ॥१२॥
प्राचिन्वान् खल्वश्मकीमुपयेमे यादवीम् । तस्यामस्य जज्ञे संयातिः ॥१३॥

संयातिः खलु दृषद्वतो दुहितरं वराङ्गी नामोपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे अहंयातिः ॥ १४ ॥

अहंयातिः खलु कृतवीर्य दुहितरमुपयेमे भानुमतीं नाम । तस्यामस्य जज्ञे सार्वभौमः ॥ १५ ॥

सार्वभौमः खलु जित्वा जहार कैकेयीं सुनन्दां नाम । तामुपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे जयत्सेनो नाम ॥ १६ ॥

जयत्सेनो खलु वैदर्भीमुपयेमे सुश्रवां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अवाचीनः ॥१७॥
अवाचीनोपि वैदर्भीमपरामेवोपयेमे मर्यादां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अरिहः॥१८॥

अरिहः खल्वाङ्गीमुपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे महाभौमः ॥ १९ ॥

महाभौमः खलु प्रासेनजितीमुपयेमे सुयज्ञां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अयुतनायी,'''॥ २० ॥

अयुतनायी खलु पृथुश्रवो दुहितरमुपयेमे कामां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अक्रोधनः ॥ २१ ॥

स खलु कलिङ्गीं करम्भां नामोपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे देवातिथिः ॥ २२ ॥
देवातिथिः खलु वैदेहीमुपयेमे मर्यादां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अरिहोनाम ॥२३॥
अरिहः खल्वाङ्गेयीमुपयेमे सुदेवां नाम । तस्यां पुत्रमजीजनदृक्षम् ॥ २४ ॥
ऋक्षः खलु तक्षक दुहितरमुपयेमे ज्वालां नाम तस्यां पुत्रं मतिनारं'''॥ २५ ॥
तंसु सरस्वती पुत्रं मतिनारादजीजनत् ।

ईलिनं जनयामास कलिङ्ग्यां तंसुरारमजम् ॥ २७ ॥
ईलिनस्तु रथन्तर्यां दुष्यन्ताद्यान् पञ्चपुत्रानजीजनत् ॥ २८ ॥
दुष्यन्तः खलु विश्वामित्रदुहितरं शकुन्तलां नामोपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे भरतः ॥ २९ ॥
भरतः खलु काशेयीमुपयेमे सार्वसेनीं सुनन्दां नाम । तस्यामस्य जज्ञे भुमन्युः ॥ ३२ ॥
भुमन्युः खलु दाशार्हीमुपयेमे विजयां नाम । तस्यामस्य जज्ञे सुहोत्रः ॥ ३३ ॥
सुहोत्रः खल्विक्ष्वाकुकन्यामुपयेमे सुवर्णां नाम । तस्यामस्य जज्ञे हस्ती ॥३४॥
हस्ती खलु त्रैगर्तीमुपयेमे यशोधरां नाम । तस्यामस्य जज्ञे विकुण्ठनोनाम ॥३५॥
विकुण्ठनः खलु दाशार्हीमुपयेमे सुदेवां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अजमीढोनाम ॥३६
अजमीढस्य चतुर्विंश पुत्र शतं बभूव'''। तत्र वंशकरः संवरणः ॥ ३७ ॥
संवरणः खलु वैवस्वतीं तपतीं नामोपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे कुरुः ॥ ३८ ॥
कुरुः खलु दाशार्हीमुपयेमे शुभाङ्गीं नाम । तस्यामस्य जज्ञे विदूरः ॥ ३९ ॥
विदूरस्तु माधवीमुपयेमे सप्रियां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अनश्वा नाम ॥ ४० ॥
अनश्वा खलु मागधीमुपयेमे अमृतां नाम । तस्यामस्य जज्ञे परीक्षित् ॥ ४१ ॥
परीक्षित् खलु बाहुदामुपयेमे सुयशां नाम । तस्यामस्य जज्ञे भीमसेनः ॥४२॥
भीमसेनः खलु कैकेयीमुपयेमे कुमारीं नाम । तस्यामस्य जज्ञे प्रतिश्रवानाम ॥४३

प्रतिश्रवसः प्रतीपः खलु । शैब्यामुपयेमे सुनन्दां नाम । तस्यां पुत्रानुत्पादयामास देवापिं शान्तनुं वाह्लीकं चेति ॥ ४४ ॥

शान्तनुः खलु गङ्गां भागीरथीमुपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे देवव्रतो नाम, यमाहुर्भीष्ममिति ॥ ४७ ॥
भीष्मः खलु पितु प्रियचिकीर्षया सत्यवतीं मातरमुदवाहयत ॥ ४८ ॥

तस्यां पूर्वं कानीनो गर्भः पराशराद् द्वैपायनोऽभवत् । तस्यामेव शान्तनोरन्यौ द्वौ पुत्रौ बभूवतुः ॥ ४९ ॥
विचित्रवीर्यश्चित्रांगदश्च ।'''विचित्रवीर्यस्तु राजाऽऽसीत् ॥ ५० ॥

स (द्वैपायनः) तथेत्युक्त्वा त्रीन पुत्रानुत्पादयामास; धृतराष्ट्रं पाण्डुं विदुरं चेति ॥ ५२ ॥
तत्र धृतराष्ट्रस्य राज्ञः पुत्रशतं बभूव'''॥ ५६ ॥

तेषां धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां चत्वारः प्रधाना बभूवुः; दुर्योधनो दुःशासनो विकर्णश्चित्रसेनश्चेति ॥ ५७ ॥
पाण्डोस्तु द्वे भार्ये बभूवतुः कुन्ती पृथा नाम माद्री च ॥ ५८ ॥

सा त्वं मदर्थे पुत्रानुत्पादयेति कुन्तीमुवाच । सा तथोक्त्वा पुत्रानुत्पादयामास । धर्माद् युधिष्ठिरं मरुताद् भीमसेनं शक्रादर्जुनमिति ॥ ६१ ॥

माद्रयामश्विभ्यां नकुलसहदेवावुत्पादितौ ॥ ६१ ॥

कुशलिनः पुत्रांश्चोत्पादयामासुः। प्रतिविन्ध्यं युधिष्ठिरः, सुतसोमं वृकोदरः श्रुतकीर्तिमर्जुनः, शतानीकं नकुलः, श्रुतकर्माणं सहदेव इति।

युधिष्ठिरस्तु गोवासनस्य शैव्यस्य देविकां नाम कन्यां स्वयंवरे लेभे। तस्यां पुत्रं जनयामास यौधेयं नाम।

भीमसेनोऽपि काश्यां बलन्धरां नामोपयेमे वीर्यशुल्काम्। तस्यां पुत्रं सर्वगं नामोत्पादयामास ॥ ७७ ॥

अर्जुनः खलु द्वारवतीं गत्वा भगिनीं वासुदेवस्य सुभद्रां भद्रभाषिणीं भार्यामुदावहत्।···तस्यां पुत्रमभिमन्युम्···॥ ७८ ॥

नकुलस्तु चैद्यां करेणुमतीं नाम भार्यामुदावहत। तस्यां पुत्रं निरमित्रं नामाजनयत् ॥ ७९ ॥

सहदेवोऽपि माद्रीमेव स्वयंवरे विजयां नामोपयेमे। तस्यां पुत्रमजनयत् सुहोत्रं नाम ॥ ८० ॥

भीमसेनस्तु पूर्वमेव हिडिम्बायां राक्षसं घटोत्कचं पुत्रमुत्पादयामास ॥ ८१ ॥

इत्येत एकादश पाण्डवानां पुत्राः। तेषां वंशकरोऽभिमन्युः ॥ ८२ ॥

स विराटस्य दुहितरमुपयेमे उत्तरां नाम ॥ ८३ ॥

परीक्षित् खलु माद्रवतीं नामोपयेमे त्वन्मातरम्। तस्यां भवान् जनमेजयः ॥८५॥

भवतो वपुष्टमायां द्वौ पुत्रौ जज्ञाते; शतानीकः शंकुकर्णश्च। शतानीकस्य वैदेह्यां पुत्र उत्पन्नोऽश्वमेधदत्त इति ॥ ८६ ॥

२८. द्रष्टव्य, महाभारत द्रोणपर्व, अध्याय ५७।

२९. शरभो नाम यस्तेषां दैतेयानां महासुरः।
पौरवो नाम राजर्षिः स बभूव नरोत्तमः ॥ महाभारत, आदिपर्व ।६७।२८।

१०. तथेमे सर्वं पाञ्चाला दुष्यन्तपरमेष्ठिनौ। अन्वयाः कुशिका राजन् जह्नोरमित तेजसः। — महाभारत, आदिपर्व, ९४।

११. मेगस्थनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन—रामचंद्र शुक्ल, भूमिका, पृ० ६।

१२. एरियन, एनावसीस, ४ वीं पुस्तक।

१३. कर्टियस, ८ वीं पुस्तक, अध्याय १४।

१४. एरियन, एनावसीस, ५ वीं पुस्तक, अध्याय १४। एरिस्टोबुल; टालमी ने भी पौरवपुत्र को प्रतिरोधक कहा है।

*

वार्ता साहित्य के कुछ प्रयोग

शिवनाथ

•

इस प्रबंध के प्रधान आधार 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' हैं। इनके रचयिता गोस्वामी गोकुलनाथ हैं, यह विदित है। इन दोनों ग्रंथों की रचना का समय सन् १५६८ ई० है। प्राचीन हिंदी साहित्य में गद्य की विरलता की स्थिति में निस्संदिग्ध रूप से इन ग्रंथों का बड़ा महत्व है। प्रबंध में इन ग्रंथों से संगृहीत कुछ शब्दों तथा मुहावरों के भी अर्थतात्विक विकास का विवेचन किया गया है। यत्र तत्र शब्दों की व्युत्पत्ति के संबंध में भी विचार है।

(१) पुरुषोत्तम जोसी कों देहानुसंधान रह्यौ नाहीं। रस मैं मगन ह्वै गए।

—चौरासी०, पृ० ३२२।

उद्धृत अंश में प्रयोग को देखते हुए 'अनुसंधान न रहना' और इसके विपरीत रूप 'अनुसंधान रहना' को एक मुहावरे के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। आधुनिक हिंदी में इसके समतुल्य मुहावरा है: 'सुध-बुध, खोज-खबर न रहना' अथवा इसका विपरीत रूप 'सुध-बुध, खोज-खबर रहना'।

प्रा० भा० आ० संस्कृत 'अनुसंधान, अनुसंधानं' के ये अर्थ हैं: 'परीक्षण। पूछताछ। जाँच-पड़ताल। सजाना। लक्ष्य करने की क्रिया। योजना। समुचित संबंध।' (संस्कृत : मोनियर)। म० भा० आ० प्राकृत 'अणुसंध' के अर्थ 'खोजना, ढूँढ़ना, तलाश करना। विचार करना। पूर्वापर का मिलान' और 'अणुसंधण, अणुसंधाण' के अर्थ 'खोज, शोध। विचार, चिंतन। पूर्वापर का मिलान' हैं (पाइअ : सेठ)। न० भा० आ० बँगला में इसका अर्थ 'अन्वेषण, खोज, संधानकरण' है (बँगला : दास)। ओड़िया में इसके अर्थ 'गवेषणा। परीक्षा। पूछताछ। जाँच-पड़ताल। ढूँढ़-खोज' प्राप्त हैं (ओड़िया : प्रहराज)। हिंदी में इसके अर्थ हैं: 'किसी व्यक्ति या बात के पीछे लगना या पड़ना। अच्छी तरह देखकर किसी बात का पता लगाना, जाँच-पड़ताल (इन्वेस्टिगेशन)' (हिंदी : वर्मा)। किंतु, आजकल हिंदी में इसके उक्त भा० आ० काल के सभी

अर्थ दब गए हैं, और इन्हीं के आधार पर इसका प्रयोग 'गवेषणा' (रिसर्च) के अर्थ में चलता है। ओड़िया में भी इसका एक अर्थ 'गवेषणा' है, इसे हमने देखा है।

उद्धृत अंश में इसका अर्थ 'सुध-बुध, खोज-खबर' है। इस अर्थ में भी 'शोध, खोज' के अर्थ का तत्व है, मगर वह आत्मपरक (सब्जेक्टिव) है, और इसका मूल अर्थ परपरक (ऑब्जेक्टिव) है। अतः इसके मूल अर्थ का आरोप प्रस्तुत अंश के 'अनुसंधान' शब्द पर हुआ तो जरूर है, मगर उक्त भेद के साथ। और, इसी लिये यहाँ इसके अर्थ में परिवर्तन होकर एक नवीन अर्थ उद्भूत हुआ है। यहाँ अर्थारोप के माध्यम से अर्थसंकोच का तत्व प्राप्त है।

(२) पाछें हाकिम के मनुष्यन ने गोविंददास को अपराध कियो। यह बात मथुरा के वैष्णवन ने सुनी। सो गोविंददास की देह को संस्कार कियो।

—चौरासी०, पृ० १८१।

'अपराध करना' को भी एक मुहावरे के रूप में माना जा सकता है, जिसका अर्थ है 'मार डालना'।

प्रा० भा० आ० संस्कृत 'अपराध्' (अप-√राध्) के अर्थ 'अपने लक्ष्य, आदि से च्युत होना। किसी को हानि पहुँचाना। पाप करना' है (संस्कृत : मोनियर)। 'अपराध' के अर्थ ये हैं : 'लक्ष्यच्युत। हानिकारी। पापी, विधान-विरुद्ध कार्य करनेवाला, मुजरिम। भूलचूक करनेवाला' (वही)। 'अपराधः' के अर्थ 'हानि, क्षति। दोष। भूलचूक' हैं (वही)। म० भा० आ० में 'अपराध, अपराधो, अवराह' के अर्थ भी प्रा० भा० आ० के 'अपराधः' की भाँति ही हैं। इसी प्रकार न० भा० आ० की बँगला, ओड़िया, हिंदी में भी इसके अर्थ में कोई नवीनता नहीं लक्षित होती (बँगला : दास। ओड़िया : प्रहराज। हिंदी : वर्मा)। ध्यान में रखने की बात यह है कि म० भा० आ० तथा न० भा० आ० में प्रा० भा० आ० के 'अपराध्' का एक अर्थ 'अपने लक्ष्य से च्युत होना' नहीं प्राप्त है। इसी प्रकार उक्त दोनों भाषाकालों में प्रा० भा० आ० के 'अपराधः' (विशेषणरूप) का प्रयोग नहीं मिलता। ओड़िया में जो 'अपराध' का वैशेषणिक अर्थ मिलता है वह प्रा० भा० आ० के 'अपराधः' के अर्थ का अनुसरण मात्र जान पड़ता है।

उद्धृत अंश में 'अपराध कियो' का अर्थ 'मार डाला, हत्या की' है। ऐसी स्थिति में 'अपराध करना' का अर्थ 'मार डालना' होगा। इसका यह अर्थ उक्त किसी भी भा० आ० काल में प्राप्त नहीं और न अधुना ही प्रचलित है।

उद्धृत अंश के प्रथम वाक्य को वर्तमान खड़ी बोली हिंदी में इस प्रकार

रखेंगे : 'पीछे हाकिम के मनुष्यों ने गोविंददास का—के प्रति—अपराध किया।' 'अपराध करना' का अर्थ यदि 'क्षति करना' यहाँ लिया जाय तो प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ 'प्राणों की क्षति करना' होगा। इस प्रकार यहाँ अर्थसंकोच का तत्व मिलता है। प्रसंग भक्तों का है, जो हत्या जैसी अमंगल घटना को अपने मुख से नहीं कहना चाहते हैं, अतः इसे दुर्घटनाबोधक एक हलके शब्द 'अपराध' द्वारा व्यक्त किया है। यद्यपि 'अपराध' मंगलबोधक शब्द नहीं है तथापि 'हत्या' शब्द से बहुत हलके अर्थ का बोध कराता है। ऐसी हालत में अमंगलबोधक शब्द के स्थान पर मंगलबोधक शब्द के प्रयोग का तत्व (यूफेमिज्म) भी यहाँ गृहीत किया जा सकता है।

(३) सो रुद्रकुंड ऊपर आय बंगालीन की झोंपरी में आँच लगवाय दीनो।

—चौरासी०, पृ० ६२८।

उद्धृत अंश के मुहावरे को आधुनिक हिंदी में कहेंगे 'आग लगवा दी।'

'आँच' प्रा० भा० आ० संस्कृत 'अर्चि, अर्चिः' का विकसित रूप है। 'अर्चि, अर्चिः' के अर्थ 'किरण। प्रकाश की किरण। प्रकाश। लौ। कांति' हैं (संस्कृत : मोनियर)। म० भा० आ० पालि में 'अच्चि' इन अर्थों में प्रयुक्त मिलता है : 'प्रकाश की किरण। सूर्य किरण। लौ' (पालि : चाइल्डर्स)। 'पालि : रीज' में इसके अर्थ 'प्रकाश की किरण। किरण। लौ' हैं। प्राकृत 'अच्चि' के अर्थ प्राप्त हैं : 'कांति, तेज। अग्नि की ज्वाला। किरण। दीपशिखा' (पाइअ : सेठ)। न० भा० आ० बँगला 'आँच' के अर्थ 'अग्निशिखा वा ज्वाल। उष्णता, उत्ताप। अल्प ताप, भाप' मिलते हैं (बाँगला : दास)। ओड़िया में इसके इन अर्थों की प्राप्ति होती है : 'ताप। लौ। अग्नि। स्पर्श। अल्प संबंध। अल्प चोट। अल्प व्यथा। अल्प श्रम' (ओड़िया : प्रहराज)। हिंदी में इसके अर्थ 'गरमी, ताप। आग की लपट, लौ। आग। एक एक बार पहुँचा हुआ ताप। तेज, प्रताप। आघात, चोट। हानि, अहित, अनिष्ट। विपत्ति, संकट, आफत। प्रेम, मुहब्बत। कामवासना' हैं (हिंदी : वर्मा)।

विभिन्न भा० आ० कालों में इसके अर्थों का उल्लेख किया गया है। विचार करने से विदित होगा कि प्रा० भा० आ० तथा म० भा० आ० में स्वल्प भेद के साथ इसके अर्थों में समानता अधिक है। उक्त दोनों भा० आ० कालों में इसके अर्थों में लाक्षणिकता का समावेश भी नहीं दिखाई पड़ता। न० भा० आ० में आकर इसके अर्थों में नवीनता का विशेष संनिवेश दिखाई पड़ता है। इसके अर्थों में लाक्षणिकता भी दिखाई पड़ती है, विशेषतः ओड़िया और हिंदी में।

अधुना न० भा० आ० में इसका प्रधान अर्थ 'ताप, गरमी' है। अन्य अर्थों में इसका व्यवहार या तो कम दिखाई पड़ता है अथवा बोलियों में दिखाई पड़ता है। उद्धृत अंश में आधुनिक हिंदी के प्रयोग अथवा मुहावरे की दृष्टि से 'आँच' के स्थान पर 'आग' का प्रयोग होगा। ऐसे प्रसंगों में आजकल 'आग लगवाना' मुहावरा चलता है, 'आँच लगवाना' नहीं। विचार कर देखा जाय, तो 'आग' और 'आँच' में गुणी और गुण का भेद है। 'आग' गुणी है और 'आँच' ('आग' का) गुण। ऐसी स्थिति में यहाँ गुणी के अर्थ पर गुण के अर्थ का आरोप किया गया है। इसके वर्तमान अर्थ पर दृष्टि रखकर ऐसा ही कहा जा सकता है।

(४) पाछे जल आरोगि बीरी आरोगि पौढ़ते।

—चौरासी०, पृ० ५७४।

देशी शब्द 'आरोग्ग' का यह विकसित रूप है। इस ('आरोग्ग' = 'आरोगना') का अर्थ है 'भोजन करना'—

आरोग्गिअआसीवयआहुडिया भुत्तमुहअपडिएसु

—देशी०, १।६६।

प्राचीन हिंदी साहित्य में तथा अन्यत्र भी इसका प्रयोग इस अर्थ में बराबर मिलता है :

पान आरोगइ ते घणा, वनिता वीजइ वाय।

—माधवा० प्रबंध, पृ० १०८।

पंचामृत भोजन हवा. आरोगां परिवार।
माधव बीदा उचरी, माइ करइ जयकार॥

—माधवा० कथा, पृ० १०८

'कान्हड दे०' में भी इसका प्रयोग इसी अर्थ में अनेक स्थलों पर मिलता है।

'चौरासी०' के उद्धृत अंश में दूसरे 'आरोगि' का अर्थ 'भोजन करके' है, किंतु पहले 'आरोगि' का अर्थ है 'पीकर', जैसा कि प्रसंग से स्पष्ट है। उक्त उदाहरणों में कहीं भी इसका प्रयोग 'पीना' के अर्थ में नहीं हुआ है। 'खाना' तथा 'पीना' के अर्थ में 'आरोगना' का प्रयोग वैसा ही है जैसा न० भा० आ० बँगला में 'खाना' का प्रयोग उक्त दोनों अर्थों में चलता है। इसमें बीड़ी, सिगरेट 'पीने' के अर्थ में भी 'खाने' का व्यवहार होता है।

प्र० भा० आ० संस्कृत 'आरोग्य' से भी इस शब्द का संबंध जोड़ा जा सकता है। 'आरोग्य' का अर्थ है : 'नीरोग रहने का भाव'। इसके इस अर्थ के

आधार पर 'आरोगि, आरोग्य' का यह अर्थ हो सकता है कि 'नीरोग रहने पर जो भोजन किया जाय।' इस 'आरोग्य' से नामधातु 'आरोगना' बनेगा और इसका अर्थ तब किया जा सकता है : 'भोजन करना'।

'आरोगना' के प्रचलित अर्थ पर तथा इसके 'पीना' अर्थ पर दृष्टि रखकर विचार करने से यहाँ अर्थसंकोच का तत्व मिलता है।

(५) या प्रकार सगरे ब्रजबासी बहू की उपमा करन लागे।

—दो सौ० – २, पृ० ३।

प्रा० भा० आ० संस्कृत 'उपमा' के अर्थ हैं : 'तुलना। साम्य। एकता। एक। समान' (संस्कृत : मोनियर)। म० भा० आ० पालि में इसके अर्थ प्रा० भा० आ० के अर्थ के समान ही हैं, यद्यपि इसमें इसका वैशेषणिक अर्थ नहीं है। इन अर्थों के अतिरिक्त इसमें इसके ये अर्थ भी प्राप्त हैं : '(उपमा) अलंकार। अध्यवसित रूपक। उदाहरण' (पालि : चाइल्डर्स, पालि : रीज)। प्राकृत में इसके अर्थ 'सादृश्य। दृष्टांत' हैं (पाइअ : सेठ)। न० भा० आ० बँगला, ओड़िया, हिंदी में भी इसके अर्थ प्रा० भा आ० तथा म० भा० आ० के समान हैं (बँगला : दास, ओड़िया : प्रहराज, हिंदी : वर्मा)। कहने का तात्पर्य यह कि 'तुलना। साम्य। एकता। एक अलंकार' के अर्थों में यह न० भा० आ० में भी चलता है।

जिस प्रसंग में इसका प्रयोग उद्धृत अंश में हुआ है उसको देखते हुए इसका अर्थ 'प्रशंसा' निर्धारित होता है। हमने देखा है इसका मूल अर्थ 'तुलना' है। किसी वस्तु अथवा व्यक्ति से किसी वस्तु अथवा व्यक्ति की तुलना या तो गुण-वर्णन के लिये की अथवा दी जाती है या दोषवर्णन के लिये। यदि गुणवर्णन के प्रसंग में 'तुलना' की अथवा दी जाय तो तात्पर्य 'प्रशंसा' ही होता है। इसी प्रक्रिया-वश यहाँ इसका अर्थ 'प्रशंसा' हुआ है। विचार करने से ज्ञात होता है कि यहाँ साध्य ('प्रशंसा') के अर्थ की प्राप्ति के लिये साधन ('तुलना') के अर्थ का प्रयोग किया गया है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि साधन के अर्थ पर साध्य के अर्थ में आरोप किया गया है। अतः यहाँ अर्थारोप का तत्व प्राप्त होता है।

(६) आपु की कानि तें श्री ठाकुर जी आरोगे हैं।

—चौरासी०, पृ० ४५०।

'कानि की व्युत्पत्ति पर अभी तक विचार नहीं हुआ है। यह प्रा० भा० आ० संस्कृत 'कारणं' से व्युत्पन्न जान पड़ता है : 'कारण > * कार् ण > * कारण > काञ, कान, कानि'। ऐसी स्थिति में 'कानि तें' का अर्थ होगा 'कारण से'। यह

प्राचीन हिंदी में ही प्रयुक्त होता है, और इसका एक अर्थ 'संकोच, लिहाज' होता है। उद्धृत अंश को इसके उक्त अर्थों में देखने से कुछ स्पष्टता का बोध हो सकता है : 'आप के कारण से ठाकुर जी ने आरोगा (भोजन किया) है'। 'आप के संकोच, लिहाज से ठाकुर जी ने आरोगा है।' 'कारण' के अर्थ को और सुष्ठु और स्पष्ट करने के लिये इसका अर्थ 'संकोच, लिहाज' किया गया है, ऐसा जान पड़ता है। इस प्रकार यहाँ अर्थसंकोच का तत्व मिलता है।

जूनी (प्राचीन) गुजराती में एक 'कान्हा' शब्द मिलता है। हमारा अनुमान है कि इसका मूल भी 'कारण' ही है : 'कारण > * कार्ण > * कारण > कान, कान, कान्ह, ककन्हा'। किंतु 'कन्हा' का अर्थ 'कारण' ही बना रहा, 'कानि' की तरह इसका अर्थपरिवर्तन नहीं हुआ। 'कन्हा' का एक उदाहरण है :

'राजा पुत्र हीं कन्हा राजलक्ष्मी हीं कन्हा चंद्र अधिक करि मानइ' (पुत्र तथा राजलक्ष्मी के कारण राजा चंद्र से बढ़कर माना जाता है)

—प्राचीन०, पृ० २२२।

(७) और वा पुरुष सों कह्यो, जो-हों तो कोठी में बैठूँगी और तुम भोग सराय के वैष्णवन कों महाप्रसाद लिवाइयो।

—दो सौ०-२, पृ० ७७।

यह प्रा० भा० आ० संस्कृत 'कोष्ठ' का विकसित रूप है। संस्कृत 'कोष्ठ : (आभिधानिक), कोष्ठं' के ये अर्थ हैं : 'धान्यागार। गोदाम। खजाना'। 'कोष्ठः' के अर्थ 'अंतःपुर (आभिधानिक)। किसी वस्तु का आवरण' भी मिलते हैं। 'कोष्ठं' के अर्थ 'चहारदीवारी। कोई घेरा, अहाता या स्थान' भी हैं (संस्कृत : मोनियर)। म० भा० आ० पालि 'कोट्ठ, कोट्ठो' के अर्थ प्रायः प्रा० भा० आ० संस्कृत के समान हैं : 'धान्यागार। गोदाम। कमरा, घर। कोई खाली घिरी जगह। भिक्षुगृह' (पालि : चाइल्डर्स, पालि : रीज)। प्राकृत 'कुट्ठ, कोट्ठ, कोट्ठग, कोट्ठय' के ये अर्थ प्राप्त हैं : 'आश्रयविशेष, आवासविशेष। अपवरक, कोठरी। चैत्यविशेष। धान्य रखने का बड़ा भाजन' (पाइअ : सेठ)। न० भा० आ० बँगला 'कुठि, कोठी' के अर्थ 'कार्यालय। वाणिज्यालय। अट्टालिका। बँगला' हैं (बाँगला : दास)। ओड़िया 'कोठी' के ये अर्थ प्राप्त होते हैं : 'धान्यागार। पक्की इमारत। कमरा, गृह, घर। छाया हुआ बँगला। पब्लिक अफसर का निवास। कोठरी। बँगला। वाणिज्यागार। यूरपवालों के लिये क्वार्टर' (ओड़िया : प्रहराज)। असमिया 'कुठि' का अर्थ भी 'बड़ा मकान, बँगला' है। लहँदा, सिंधी, गुजराती, मराठी 'कोठी'

का अर्थ 'मकान' है। पंजाबी 'कोट्ठि' के अर्थ 'बड़ा मकान। वेश्यालय' हैं (नेपाली : टर्नर)। हिंदी 'कोठी' के ये अर्थ मिलते हैं: 'बड़ा या पक्का मकान, हवेली। वह मकान जिसमें रुपयों का लेन-देन या कोई कारबार होता हो, बड़ी दूकान। अनाज रखने का कुठला। कूएँ की दीवार या पुल के खंभे में पानी के नीचे जमीन तक होनेवाली ईंट पत्थर की जोड़ाई। एक जगह मंडलाकार उगे हुए बाँसों का समूह' (हिंदी : वर्मा)।

उद्धृत अंश में इसका अर्थ 'कोठरी' है। इसका यह अर्थ म० भा० आ० पालि, प्राकृत तथा बँगला, ओड़िया, आदि न० भा० आ० में भी प्राप्त है। किंतु आधुनिक हिंदी में इसका यह अर्थ नहीं चलता। इसका प्रयोग आजकल 'पक्का मकान, हवेली' के अर्थ में ही प्रधान रूप से चलता है। असमिया में भी इसका यही अर्थ है। न० भा० आ० में 'गृह' संबंधी इसके अन्य अर्थों द्वारा भी 'हवेली' के समान ही अर्थ मिलता है। ऊपर के विचार से स्पष्ट है कि भा० आ० काल में इसके अर्थ 'कमरा, घर, कोठरी' भी हैं और 'अट्टालिका' तथा इसी के समान ही अन्य अर्थ भी; किंतु आधुनिक हिंदी में यह 'अट्टालिका' के अर्थ में ही मिलता है, जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है। हमने यह भी देखा है कि उद्धृत अंश में इसका अर्थ 'कोठरी' है। इसके उद्धृत अंश के अर्थ तथा इसके आधुनिक हिंदी में प्रचलित अर्थ का मिलान करने से यहाँ अर्थसंकोच का तत्व मिलता है।

> (८) तब लालाबाई ने यह हुकम वा समै कियौ, जो—जाने यह चुगली करी है वा चुगल कों अब ही खरच करि डारो।
>
> —दो सौ०-१, पृ० १५७।

इसे एक मुहावरे के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। 'खरच' अरबी 'खर्ज, खर्च' का विकसित रूप है। अरबी में इसके कुछ अर्थ ये हैं: 'लगान, कर। आगे बढ़ने की क्रिया। व्यय' (पर्सियन : स्टाइनगास)। न० भा० आ० बँगला 'खरच, खरचा' के अर्थ 'व्यय। अर्थ। देना, ऋण' हैं (बाँगला : दास)। ओड़िया 'खरच करिबा' के ये अर्थ मिलते हैं: 'व्यय करना। बुद्धि लगाना। व्यवहार करना' (ओड़िया : प्रहराज)। हिंदी 'खरचना' के अर्थ 'धन व्यय करना, खर्च करना। किसी वस्तु को व्यवहार या उपयोग में लाना' हैं (हिंदी : वर्मा) आधुनिक हिंदी में भी यह इन्हीं अर्थों में व्यवहृत होता है—विशेषतः ओड़िया तथा हिंदी के उक्त अर्थों में; वैसे 'व्यय करना' इसका प्रधान अर्थ है। अरबी में भी इसका यह अर्थ प्राप्त है।

उद्धृत अंश में 'खरच करि डारो' का प्रयोग 'मार डालो' के अर्थ में हुआ है। जो चीज 'खरच' की जाती है वह 'कमती, कम होती' है। यहाँ

'जीवन, जीव, प्राण', आदि को 'खरच करना' का भी अर्थ इसी आधार पर किया गया है, अर्थात् 'जीवन, जीव, प्राण', आदि को 'कम करना' यानी 'मार डालना'। यह प्रयोग 'दो सौ०' में कई स्थलों पर आया है। वर्तमान हिंदी में इसका यह अर्थ नहीं होता। यह अमंगल के लिये मंगल के प्रयोग का उदाहरण है।

(९) तू खेद पावेगो।

—चौरासी०, पृ० ३३।

प्रा० भा० आ० संस्कृत 'खेद' के अर्थ 'मूर्च्छा। श्रांति, थकान। व्यथा। कामोत्तेजना' हैं (संस्कृत : मोनियर)। म० भा० आ० पालि 'खेद, खेदो' के अर्थ भी 'व्यथा। श्रांति, थकान। श्रांत, थका हुआ' हैं (पालि : चाइल्डर्स, पालि : रीज)। प्राकृत 'खेअ' के ये अर्थ प्राप्त होते हैं : 'खेद। उद्वेग। शोक। तकलीफ। परिश्रम। संयम। विरति, थकावट, श्रांति' (पाइअ : सेठ)। न० भा० आ० बँगला 'खेद' इन अर्थों में प्रयुक्त मिलता है : 'दुःख। शोक। श्रम। क्लांति अवसन्नता' (बाँगला : दास)। ओड़िया 'खेद' के अर्थ 'शोक। मानसिक कष्ट। शारीरिक कष्ट। श्रम। श्रांति। थकान। क्षति के कारण दुःख, पश्चात्ताप, पारिवारिक रहस्य' हैं (ओड़िया : प्रहराज)। हिंदी में यह इन अर्थों में व्यवहृत होता है : 'किसी उचित, आवश्यक या प्रिय बात के न होने पर मन में होनेवाला दुःख, रंज। शिथिलता, थकावट' (हिंदी : वर्मा)। हिंदी का इसका पहला अर्थ भा० आ० के सभी कालों में प्राप्त है, जैसा कि हमने देखा है। किंतु आधुनिक हिंदी में वस्तुतः यह 'हलका दुःख, कष्ट' के अर्थ में व्यवहृत होता है। जैसे आजकल हम बात बात में अँगरेजी के 'सॉरी' शब्द का प्रयोग करते हैं, वैसे ही 'खेद' शब्द को भी आजकल इसी उक्त 'सॉरी' का स्थानापन्न समझना चाहिए। आजकल हिंदी में इसका 'शिथिलता, थकावट' वाला अर्थ नहीं दिखाई पड़ता।

उद्धृत अंश में यह 'दुःख, कष्ट, व्यथा' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसमें यह – आजकल के इसके अर्थ 'हलका दुःख, कष्ट, व्यथा' अर्थ में नहीं, वरन् 'पूर्ण दुःख, कष्ट, व्यथा' अर्थ में—व्यवहृत हुआ है। इस प्रकार इसके वर्तमान अर्थ तथा उद्धृत अंश के अर्थ पर विवेचनाभरी दृष्टि से विचार करने पर यहाँ अर्थसंकोच का तत्व मिलता है।

(१०) तू गाँठि देखत रहि, मैं उपरा बीनि लाऊँ।

—चौरासी०, पृ० ३६६।

यह प्रा० भा० आ० संस्कृत 'ग्रंथि' का विकसित रूप है। संस्कृत में इसके ये अर्थ मिलते हैं : 'बंधन। रस्सी का बंधन, रस्सी की गाँठ। द्रव्य बाँधने

के लिये वस्त्र के छोर पर दिया गया बंधन, — दी गई गाँठ। गठरी' (संस्कृत : मोनियर)। म० भा० आ० पालि 'गंठ्ठि' के अर्थ 'जोड़, गाँठ, बंधन। पौधे का जोड़, पोर। (लकड़ी का) बड़ा टुकड़ा' हैं (पालि : चाइल्डर्स, पालि : रीज)। प्राकृत 'गंठि' के अर्थ हैं : 'गाँठ, जोड़। बाँस, आदि की गिरह, पर्व, गठरी, रोगविशेष। राग-द्वेष, आदि का निविड़ परिणामविशेष' (पाइअ : सेठ)। न० भा० आ० बँगला 'गाँइट, गाँट, गाँठ, गाँटि, गाँठि, गाँडि' के अर्थ 'गिरह, फाँस। गठरी। बस्ता। बोरा। संचय, जमा' हैं (बाँगला : दास)। ओड़िया 'गाँठि' के ये अर्थ प्राप्त हैं : 'खूब कसकर बाँधी गई कपड़े की गाँठ। कसा बंधन' (ओड़िया : प्रहराज)। हिंदी 'गाँठ, गाँठि' के अर्थ हैं : 'रस्सी, कपड़े, आदि में विशेष प्रकार से फेरा देकर बनाया हुआ बंधन, गिरह। कपड़े के पल्ले में रुपया, आदि लपेट कर लगाया हुआ बंधन। कहीं भेजने के लिये एक में बाँधकर रखी हुई बहुत सी चीजों का समूह। जैसे — दो गाँठ कपड़ा, चार गाँठ रुई। अंग का जोड़। शरीर में रक्तविकार, आदि के कारण होनेवाला कोई गोल कड़ा उभार। बाँस, आदि की पोर। कुछ विशेष प्रकार की वनस्पतियों में वह उपयोगी गोल और कड़ा अंश जो जमीन के अंदर होता है (वल्ब)। जैसे — प्याज की गाँठ, हल्दी की गाँठ। जड़। बोझ, गट्ठा' (हिंदी : वर्मा)।

संस्कृत और प्राकृत में इसका एक अर्थ 'गठरी' है। न० भा० आ० बँगला, ओड़िया, हिंदी में भी इसके ये अर्थ मिलते हैं : 'गठरी। बस्ता। बोरा। खूब कसकर बाँधी गई कपड़े की गाँठ। कहीं भेजने के लिये एक में बाँधकर रखी गई बहुत सी चीजों का समूह। बोझ, गट्ठा'। उद्धृत अंश में इसका प्रयोग 'गठरी' के अर्थ में हुआ है। इसका यह अर्थ संस्कृत, प्राकृत और बँगला में प्राप्त है, जैसा कि हमने ऊपर देखा है। इसका यह अर्थ हिंदी में नहीं मिलता। आधुनिक हिंदी में भी यह 'गठरी' के अर्थ में नहीं व्यवहृत होता है। इस प्रकार इसके उद्धृत अंश के अर्थ तथा आधुनिक हिंदी के अर्थों का मिलान करने से यहाँ अर्थसंकोच का तत्व प्राप्त होता है।

(११) ता पाछें वह वैष्णव एक गुजरात के संग में श्री गोकुल गोसाँई जी के दरसन को आयो।

—दो सौ०-३, पृ० ५३।

यहाँ 'गुजरात' का प्रयोग 'गुजरात देश निवासी' के अर्थ में हुआ है। आजकल हिंदी में इसका यह अर्थ नहीं किया जायगा। यहाँ स्थान के अर्थ पर स्थाननिवासी के अर्थ का आरोप होने से अर्थारोप का तत्व मिलता है।

(१२) और कोई दिन रंच ढील हू लगे तो जब दिनकर सेट आवें तब आपु कथा कहते।

—चौरासी०, पृ० २२७।

प्रा० भा० आ० संस्कृत 'शिथिल' से इसे व्युत्पन्न माना जाता है, किंतु 'शिथिल' की 'श' ध्वनि का 'ह' ध्वनि के रूप में विकास भा० आ० के किसी काल में नहीं देखा जाता, जिससे 'थ' ध्वनि 'ढ' ध्वनि के रूप में विकसित हो सके। ऐसी स्थित में इसे संस्कृत 'शिथिल' से विकसित नहीं माना जा सकता (नेपाली : टर्नर)। अतः इसे म० भा० आ० प्राकृत में पाए जानेवाले देशी शब्द 'ढिल्ल' का विकसित रूप मानना उचित जान पड़ता है। देशी शब्द 'ढिल्ल' का अर्थ है : 'ढीला, शिथिल' (पाइअ : सेट)। न० भा० आ० 'ढिल, ढिला, ढिले, ढील' के ये अर्थ प्राप्त हैं : 'शिथिल, श्लथ, अलग। श्लथ भाव। शैथिल्य, कार्य में अन्यमनस्कता, दीर्घसूत्रता' (बँगला : दास)। ओड़िया 'ढिला, ढिळा' इन अर्थों में व्यवहृत मिलता है : 'शिथिल, दीर्घसूत्री। मंद, सुस्त। कार्य में असावधान। अव्यवस्थित, अशिघ्र' (ओड़िया : प्रहराज)। हिंदी 'ढिलाई, ढील, ढीला' इन अर्थों में प्रयुक्त होता है : 'ढीला होने का भाव। शिथिलता, सुस्ती। जो कसा या तना हुआ न हो। जो दृढ़ता से बँधा, जकड़ा या लगा न हो। जो बहुत गाढ़ा न हो, गीला। जो अपने संकल्प या कर्तव्य पर स्थिर न हो। धीमा, मंद। सुस्त, आलसी' (हिंदी : वर्मा)। आधुनिक हिंदी में भी यह इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त मिलता है।

इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि म० भा० आ० काल में देशी शब्द के रूप में तथा न० भा० आ० ओड़िया में इसका प्रयोग विशेषण के अर्थ में होता है। बँगला तथा हिंदी में यह संज्ञा तथा विशेषण दोनों अर्थों में व्यवहृत होता है। उद्धृत अंश में यह संज्ञा के रूप में ही व्यवहृत है। यहाँ इसका प्रयोग 'देरी' के अर्थ में हुआ है। आधुनिक हिंदी में यह इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता है। ढीला का एक अर्थ 'शिथिलता, सुस्ती' मिलता है, जिसके कारण 'देरी की संभावना' होती है। अतः यहाँ कारण ('शिथिलता, सुस्ती') के अर्थ पर कार्य अथवा परिणाम ('देरी') के अर्थ का आरोप होने से अर्थारोप का तत्व मिलता है।

(१३) जो सब गाम में चोरी होत है सो सब ये ही करत हैं। जो इनकी तलास में होत हैं।

—दो सौ०–२, पृ० ६५।

फारसी 'तलाश' का यह विकसित रूप है। फारसी 'तलाश' के ये अर्थ मिलते हैं : 'खोज ढूँढ़। अध्ययन। कल्पना। विचार। व्यथा। प्रयत्न' (पर्सियन :

स्टाइनगास)। न० भा० आ० बँगला 'तलाश, तलाशि, तलासि, तलासी, तल्लाश, तल्लास' का अर्थ है : 'अन्वेषण, अनुसंधान, खोज' (बाँगला : दास)। ओड़िया 'तलास' के अर्थ 'जाँच-पड़ताल। किसी व्यक्ति के शरीर या कपड़ों की खोज। अनुपस्थित व्यक्ति या वस्तु की खोज' हैं (ओड़िया : प्रहराज)। हिंदी 'तलाश' इन अर्थों में व्यवहृत मिलता है : 'कोई चीज पाने या देखने के लिये पता लगाना कि वह कहाँ है और कैसी है, विचयन, अनुसंधान, खोज (सर्च)। आवश्यकता पूरी करने के लिये होनेवाली खोज'। (हिंदी : वर्मा)।

इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि न० भा० आ० में इसके अर्थों तथा फारसी के इसके अर्थों में मेल है। इसके कुछ फारसी के अर्थ ऐसे हैं जो न० भा० आ० में नहीं आए, उल्लेख से यह भी स्पष्ट है। आधुनिक हिंदी में भी इसके वे ही अर्थ चलते हैं जो ऊपर दिए गए हैं। उद्धृत अंश के प्रसंग से ज्ञात होता है कि इसमें इसका अर्थ 'जानकारी' है, जो 'ढूँढ़ - खोज' का परिणाम होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यहाँ कारण (ढूँढ़ खोज = तलाश) के अर्थ पर परिणाम अथवा फल ('जानकारी') के अर्थ का आरोप किया गया है। अतः यहाँ अर्थारोप का तत्व प्राप्त है।

(१४) श्री आचार्य जी महाप्रभु ने पृथ्वी परिक्रमा करी।

—चोरासी०, पृ० २८।

प्रा० भा० आ० संस्कृत 'पृथिवी, पृथ्वी' के अर्थ हैं : 'भूमि। भूमंडल। पृथ्वी-तत्व' (संस्कृत : मोनियर)। म० भा० आ० पालि 'पठवी, पथवी, पुठवी, पुहुवी, पुथवी, का अर्थ 'भूमि' है (पालि : चाइल्डर्स, पालि : रीज)। प्राकृत 'पुढवि, पुढवी, पुथवी, पुथुणी, पुथुवी, के अर्थ 'पृथिवी, धरती, भूमि। काठिन्यादि गुणवाला पदार्थ, द्रव्यविशेष, मृत्तिका, पाषाण, धातु आदि' हैं (पाइअ : सेठ)। न० भा० आ० बँगला 'पृथिवी' के अर्थ मिलते हैं : 'भूमंडल, अवनी। भूमि। (पृथु राजा के अधिकृत राज्य के कारण) भारतवर्ष'। 'पृथी' का अर्थ 'धरा, पृथिवी' है (बाँगला : दास)। ओड़िया 'पृथिवी' के अर्थ भू-मंडल, संसार। भूमि, धरा, हैं (ओड़िया : प्रहराज)। हिंदी 'पृथिवी, पृथ्वी के ये अर्थ मिलते हैं : 'सौर-जगत् का वह ग्रह जिसपर हम सब लोग रहते हैं, अवनी, धरा (अर्थ)। मिट्टी-पत्थर आदि का बना पृथ्वी का वह ऊपरी ठोस भाग जिसपर हम सब लोग चलते फिरते हैं, भूमि, जमीन, धरती (अर्थ)। पंचभूतों या तत्वों में से एक, जिसका प्रधान गुण गंध है। मिट्टी' (हिंदी : वर्मा)।

भा० आ० की सभी अवस्थाओं में इसके अर्थ समान हैं। केवल बँगला में इसका अर्थ (पृथु राजा के अधिकृत राज के कारण) भारतवर्ष है। उद्धृत अंश में भी इसका अर्थ 'भारतवर्ष' है, ऐसा प्रसंग से ज्ञात होता है। इस अर्थ की

दृष्टि से बँगला के अर्थ से ही इसका मेल खाता है। आधुनिक हिंदी में इसका अर्थ 'भारतवर्ष' नहीं है। इसके आधुनिक हिंदी के अर्थ तथा उद्धृत अंश के अर्थ को दृष्टिपथ में रखकर विचार करने से उद्धृत अंश में अर्थसंकोच का तत्व मिलता है।

(१५) परि वाको जन्म बड़ी जाति में है।

— दो सौ० - ३, पृ० ३०२।

'दो सौ०' में 'बड़ी जाति' पद का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है। इसका प्रयोग 'मुसलमान जाति' के अर्थ में किया गया है। काशी में मुसलमानवर्ग 'गोमांस' को 'बड़े का मास' कहता हुआ सुना जाता है। यहाँ अप्रिय के लिये प्रिय अर्थ देनेवाले शब्दप्रयोग का तत्व (यूफेमिज्म) मिलता है।

(१६) इतने में एक वैष्णव ने नारायणदास को बधाई दई, जो — श्री गोकुल में श्री आचार्य जी महाप्रभु पधारे हैं।

— चौरासी०, पृ० २००।

इसकी व्युत्पत्ति के संबंध में मतभेद उपस्थित हो सकता है। 'बधाई' के ही अर्थ में प्रयुक्त न० भा० आ० हिंदी में 'बधावन, बधावना', आदि शब्द मिलते हैं। इनकी व्युत्पत्ति तो स्पष्ट है : 'संस्कृत वर्धापन, वर्धापनक, वर्धापनिक, वर्धापनिका > प्राकृत वद्धावण, वद्धावणा, वद्धावणी, वद्धावणिया > हिंदी बधावन, बधावना, बधावनी'। इनसे 'बधाई' का संबंध नहीं जान पड़ता, क्योंकि इस ('बधाई') में 'न' ध्वनि नहीं है। इसका संबंध संस्कृत 'वर्धापक' से जोड़ा जा सकता है : 'संस्कृत वर्धापक > प्राकृत वद्धापक > हिंदी पुंलिंग बधावा, स्त्रीलिंग 'बधाई'।

प्रा० भा० आ० संस्कृत 'वर्धापिका' का अर्थ 'सेविका' है (संस्कृत : मोनियर)। अतः 'वर्धापक' का अर्थ 'सेवक' होगा। म० भा० आ० प्राकृत 'वद्धावय' का अर्थ 'बधाई देनेवाला' मिलता है (पाइअ : सेठ)। न० भा० आ० ओड़िया 'बधा (धे) इ' का अर्थ है : 'शुभ संवादवाहक को दिया जानेवाला पुरस्कार' (ओड़िया : प्रहराज)। हिंदी में 'बधाई' इन अर्थों में प्रयुक्त मिलता है : 'वृद्धि, बढ़ती। मंगल अवसर पर होनेवाला गाना - बजाना, मंगलाचार। मंगल - उत्सव। किसी के यहाँ कोई शुभ बात या काम होने और शुभकामना पर आनंद प्रकट करनेवाली बातें, मुबारकबाद (काग्रैचुलेशन) (हिंदी : वर्मा)।

प्रसंग से 'वर्धापन', आदि के अर्थ उपस्थित करना भी अनुचित नहीं जान पड़ता। प्रा० भा० आ० संस्कृत 'वर्धापन' का आभिधानिक अर्थ 'जन्मोत्सव, अन्य किसी अवसर पर उत्सव' है। 'वर्धापक' का अर्थ 'बधाई। बधाई के उपलक्ष्य का उपहार' है। 'वर्धापनिक' का अर्थ 'मंगलमय, शुभ' है (संस्कृत :

मोनियर)। म० भा० आ० प्राकृत 'वद्धावरण, वद्धावणिया' का अर्थ 'बधाई, 'अभ्युदयनिवेदन' है (पाइअ : सेठ)। न० भा० आ० हिंदी 'बधावन, बधावना, बधावरा, बधावा, बधैया' के अर्थ 'बधाई। वह उपहार जो संबंधियों या मित्रों के यहाँ मंगल अवसरों पर गाजे-बाजे के साथ भेजा जाता है' (हिंदी : वर्मा)।

भा० आ० की विभिन्न अवस्थाओं में हमने उक्त शब्दों के अर्थों को देखा है। इससे ज्ञात होता है कि एक ही मूल से विकसित शब्दों के अर्थों में विभिन्न रूपों में अर्थविकास निहित हुआ है। हमने हिंदी 'बधाई' के अर्थों को देखा है, जो आधुनिक हिंदी में भी प्रचलित हैं। उद्धृत अंश में इसका अर्थ 'संवाद, शुभ संवाद' है। आधुनिक हिंदी में 'बधाई' इस अर्थ में अप्रयुक्त है। इस प्रकार यहाँ अर्थसंकोच का तत्व मिलता है।

'बधैया' के अर्थ हमने देखे हैं, जो 'बधाई। बधावा' है। किंतु इसका प्रयोग एक स्थान पर 'दूत' के अर्थ में हुआ है :

तब **बधैया** ने नारायनदास पास आइ कै खबरि करी।

— दो सौ० - १, १३८।

इसे इस रूप में विकसित माना जा सकता है : 'संस्कृत वर्धापक > प्राकृत वद्धावय > हिंदी बधैया'। संस्कृत 'वर्धापक' का अर्थ 'सेवक' है, इसे हमने देखा है। प्राकृत 'वद्धावय' का अर्थ 'बधाई देनेवाला' है (पाइअ : सेठ)। उद्धृत अंश के अर्थ को हमने देखा है। और, आधुनिक हिंदी के अर्थ से भी हम अवगत हैं। इस प्रकार इसके अर्थ का संबंध संस्कृत के अर्थ से जान पड़ता है। यहाँ अर्थ-संकोच का तत्व मिलता है।

(१७) धान के **मुरमुरा** होइ तो आरोंगे।

— चौरासी०, पृ० ३१।

यह ध्वन्यानुकरण शब्द है। इसी के समान ध्वनिवाले शब्द भा० आ० की सभी अवस्थाओं में मिलते हैं। प्रा० भा० आ० संस्कृत में 'मुर्मुर' शब्द मिलता है, जिसके अर्थ हैं : 'धुधुआँती हुई अथवा बुझती हुई लुकाठी। जलता हुआ पतला ईंधन' (संस्कृत : मोनियर), जिनके जलते समय एक विशेष प्रकार का शब्द होता है। म० भा० आ० पालि में 'मुरुमुरा' शब्द प्राप्त है, जिसका अर्थ 'हड्डी को तोड़ते समय दाँतों को पीसने अथवा कटकट करने की आवाज' है (पालि : रीज)। प्राकृत 'मुणमुण' का अर्थ 'अव्यक्त शब्द करना, बड़बड़ाना' है। 'मुरुमुरिअ' (देशी शब्द) का अर्थ 'रणरणक' है (पाइअ : सेठ)। इन्हीं शब्दों की भाँति हिंदी 'मुरमुरा' भी ध्वन्यानुकरण शब्द है। इसका अर्थ है : 'एक प्रकार का भुना हुआ चावल या ज्वार जो अंदर से पोला होता है, फरवी,

लावा' (हिंदी : वर्मा)। 'चावल, ज्वार', आदि के भूनने में जो शब्द होता है उसी के आधार पर इसका नाम 'मुरमुरा' हुआ। पंजाबी में 'मुरमुरा' का अर्थ 'भुनी जोन्हरी' तथा मराठी 'मुर्मुरा' का अर्थ 'भुना चावल, फरवी' है (नेपाली : टर्नर)।

आधुनिक हिंदी की बोलियों में प्रायः 'मुरमुरा' 'छोटी, बड़ी जोन्हरी का लावा, बाजरे का लावा' को कहते हैं। ध्यान में रखने की बात यह है कि उक्त अन्नों का 'लावा' केवल भूनकर बना दिया जाता है, किंतु 'मुरमुरा' बनाने की प्रक्रिया दूसरी है। 'मुरमुरा' बनाने के लिये अन्न को थोड़ा उसनने के बाद सुखाकर भूनते हैं। इस प्रकार केवल 'भुनी जोन्हरी', आदि कह देने से 'मुरमुरा' का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। आधुनिक हिंदी में 'धान का मुरमुरा' नहीं प्रचलित है, 'धान का लावा, धान की खील' प्रचलित है। 'मुरमुरा', जैसा कि हमने निवेदन किया है, 'छोटी-बड़ी जोन्हरी, बाजरे' के प्रसंग में ही प्रयुक्त होता है। हमने 'मुरमुरा' तैयार करने की प्रक्रिया का उल्लेख किया है, जो प्रक्रिया 'धान का लावा' तैयार करने में नहीं लगती। 'धान का लावा' 'धान' को मात्र भून देने से ही तैयार हो जाता है। अतः हमें ज्ञात होता है कि उद्धृत अंश में आधुनिक हिंदी के अर्थ तथा प्रसंग की भी दृष्टि से 'मुरमुरा' के अर्थ पर 'लावा' के अर्थ का आरोप किया गया है। इस अर्थारोप के माध्यम से यहाँ अर्थ-संकोच का तत्व भी आया है।

(१८) सो नारायनदास कौ मोहोंड़ो बोहोत सुपेद होइ गयो।

—दो सौ०-१, पृ० १४०।

यह प्रा० भा० आ० संस्कृत 'मुख' में 'ड़ा' प्रत्यय लगने से विकसित हुआ है। संस्कृत 'मुख' के ये अर्थ प्राप्त होते हैं : 'मुख, चेहरा। पक्षी की चोंच। पशु का थूथुन। दिशा। बासन का मुख। प्रवेशस्थान, प्रवेशद्वार। नदी का मुहाना। सेना का अग्रभाग। किसी वस्तु का ऊपरी भाग। कुल्हाड़ी की धार। स्तन की घुंडी। सतह। प्रधान, श्रेष्ठ। प्रारंभ। कारण। साधन' (संस्कृत : मोनियर)। म० भा० आ० पालि 'मुख, मुखम्' के प्रायः वे ही अर्थ हैं जो संस्कृत में इसके अर्थ प्राप्त हैं। (पालि : चाइल्डर्स, पालि : रीज)। प्राकृत 'मुह' के अर्थ हैं : 'मुँह, वदन। अग्रभाग। उपाय। द्वार, दरवाजा। आरंभ। आद्य, प्रथम। प्रधान, मुख्य। शब्द, आवाज। प्रवेश' (पाइअ : सेठ)। न० भा० आ० बँगला 'मोहाड़ा' का अर्थ 'अग्रभाग, संमुख भाग' है (बाँगला : दास)। ओड़िया मुँह' के ये अर्थ मिलते हैं : 'चेहरा। मुखविवर। सिर। अग्रभाग। व्यक्ति। वाणी, वचन। दूसरों की भावनाओं का संमान' (ओड़िया : प्रहराज)। सिंधी 'मुहाँड्रो' का अर्थ 'चेहरा' और मराठी 'मोहळ' का अर्थ ('पशु का)

थुथुन' है (नेपाली : टर्नर)। हमने देखा है कि संस्कृत में भी इसका एक अर्थ 'थुथुन' प्राप्त है। हिंदी 'मोहरा' के ये अर्थ हैं : 'मुँह का खुला भाग। सामने का भाग। सेना की अगली पंक्ति' (हिंदी : वर्मा)। इस अर्थोल्लेख से ज्ञात होता है कि भा० आ० की सभी अवस्थाओं में अनेक स्थलों पर इसके अर्थ में समानता है। प्रा० भा० आ० संस्कृत में इसके अर्थों का क्षेत्र बहुत व्यापक है।

उद्धृत अंश में इसका प्रयोग 'वदन, चेहरा' के अर्थ में हुआ है। 'दो सौ०' में यह इस अर्थ में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त है। इसका यह अर्थ संस्कृत, पालि, प्राकृत, ओड़िया, सिंधी में भी प्राप्त है। किंतु आधुनिक हिंदी और बँगला में भी इसका अर्थ 'अग्रभाग' है। जैसे, 'सिल्ली का मोहड़ा, आम की ढेरी का मोहड़ा, मकान का मोहड़ा', आदि। किसी 'व्यक्ति' के 'वदन, चेहरा' के अर्थ में स्वतंत्र रूप से इसका प्रयोग आधुनिक हिंदी में नहीं मिलता। 'चेहरा-मोहरा' यौगिक रूप में इसका प्रयोग 'चेहरा' के लिये अवश्य मिलता है। बोलियों में स्वतंत्र रूप से इसका प्रयोग यत्रतत्र मिलता है। जैसे, बनारसी बोली में 'तोहार मोहड़ा बिगाड़ देब'। इस प्रकार प्रतिमिति आधुनिक हिंदी के अर्थ तथा उद्धृत अंश में इसके अर्थ पर विचार करने से यहाँ अर्थसंकोच का तत्व मिलता है, जिसमें 'मुख' के प्रधान अर्थ के आधार पर अर्थप्रस्फोट का तत्व भी मिला है।

(१६) सो एक दिन पिछली रात्रि को माधवभट्ट लघुबाधा कों उठे।

—चौरासी०, पृ० २६३।

प्रा० भा० आ० संस्कृत 'लघु' तथा 'बाधा' से बना यह यौगिक शब्द है। 'चौरासी' में अनेक स्थलों पर इसका प्रयोग 'लघुशंका' के अर्थ में मिलता है। आ० भा० की किसी भी अवस्था की अन्य भाषा में इसका यह अर्थ प्राप्त नहीं है। यहाँ अमंगल अर्थबोध के लिये मंगल अर्थबोधक शब्दप्रयोग का तत्व मिलता है।

(२०) जब ही श्री गुसाँईजी उहाँतें विजय किए तबही नारायनदास के देस तें विट्ठलदास हूँ चले।

—दो सौ०-१, पृ० १४१।

प्रा० भा० आ० संस्कृत 'विजय' इन अर्थों में प्रयुक्त मिलता है : 'जीत के लिये लड़ाई। जीत। आक्रमण। प्रभुत्व। विजय करते समय लूटा गया सामान' (संस्कृत : मोनियर)। म० भा० आ० पालि 'विजय, विजयो' के अर्थ 'जीत। प्रभुता' हैं (पालि : चाइल्डर्स, पालि : रीज)। प्राकृत 'विजय' के अर्थ हैं : 'जय, जीत, फतह। आश्विन मास। उत्कर्ष। पराभव करके ग्रहण

करना। अभ्युदय। समृद्धि' (पाइय : सेठ)। न० भा० आ० बँगला 'विजय' इन अर्थों में व्यवहृत होता है : 'जय, जीत, प्रतिपक्ष को पराभवदान। श्रेष्ठत्व, प्राधान्य। गमन, प्रस्थान, प्रमाण। मृत्यु, महाप्रस्थान। आगमन (बाँगला : दास)। ओड़िया 'विजय' के ये अर्थ हैं : 'प्रभुता। विजय। आक्रमण। रथ। देवता अथवा राजा के जाने अथवा आने की प्रक्रिया। विजय के बाद की शोभायात्रा। राजा का सिंहासनग्रहण। उपस्थिति, आगमन। प्रस्थान। अपराजेय। विजेता। बैठा हुआ। बढ़ा हुआ। पहुँचा हुआ, गया हुआ, लौटा हुआ। उपस्थित'। ओड़िया 'विजय करिबा' के अर्थ हैं : 'किसी स्थान पर बैठना। किसी स्थान से प्रस्थान करना। कहीं आना अथवा पहुँचना। जीतना' (ओड़िया : प्रहराज)। हिंदी 'विजय' का अर्थ 'युद्ध, विवाद, प्रतियोगिता, आदि में होनेवाली जीत, जय' है (हिंदी : वर्मा)।

इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि विशेषतः प्राचीन बँगला तथा ओड़िया में इसका एक अर्थ 'प्रस्थान' है। ओड़िया में इसका एक अर्थ 'देवता अथवा राजा के जाने अथवा आने की क्रिया' भी है। उद्धृत अंश में भी इसका अर्थ 'प्रस्थान' ही है। यह अर्थ आधुनिक हिंदी में अप्राप्त है। इस दृष्टि से यहाँ अर्थसंकोच का तत्व मिलता है। 'प्रस्थान' के अर्थ में 'विजय' के प्रयोग में अमंगलबोधक शब्द के अर्थ के लिये मंगल अर्थवाले शब्दप्रयोग के तत्व की निहिति भी जान पड़ती है। ओड़िया में इसके एक अर्थ 'देवता अथवा राजा के जाने अथवा आने की क्रिया' का कारण भी यही है। संमान्य व्यक्तियों के लिये कुछ विशेष अर्थवाले शब्दों का प्रयोग लोक में देखा भी जाता है।

(२१) तासों या सरीर की यह व्यवस्था भई।

—दो सौ०–१, पृ० १३५।

प्रा० भा० आ० संस्कृत 'व्यवस्था' के ये अर्थ प्राप्त हैं : 'सापेक्षिक भेद। एक स्थान में रहना, स्थैर्य। निश्चित सीमा। स्थापना, निर्णय। नियम, कानून, आइन। कानूनी निर्णय अथवा विचार। धार्मिक विश्वास। स्थान और काल का निश्चित संबंध। माया। स्थिति, अवस्था। अवसर, सुअवसर। वचनबद्धता, प्रतिज्ञा' (संस्कृत : मोनियर) मा० भा० आ० पालि 'ववट्ठान, ववट्ठानम्' के ये अर्थ प्राप्त होते हैं : 'निश्चय। इंतजाम। विश्लेषण' (पालि : चाइल्डर्स, पालि : रीज)। प्राकृत 'ववत्था' इन अर्थों में प्रयुक्त है : 'मर्यादा, स्थिति। प्रक्रिया, रीति। इंतजाम। निर्णय' (पाइअ : सेठ)। न० भा० आ० बँगला 'व्यवस्था' के अर्थ हैं : 'शास्त्रीय विधि, समाजनियम। आइन। पृथक्-पृथक् स्थापन। स्थिति, स्थिरता। बंदोबस्त' (बाँगला : दास)। ओड़िया 'व्यवस्था' शब्द इन अर्थों में चलता है : 'इंतजाम। रीति। वस्तुओं को पृथक्-पृथक् करना। नियम। आइन। समाज-

नियम। आदेश। डिग्री। स्थिति। अवस्था। दृढ़ता। निश्चय। विचार। चरित' (ओड़िया : प्रहराज)। हिंदी में इसके ये अर्थ मिलते हैं : 'शास्त्रों, नियमों, आदि के द्वारा निश्चित या निर्धारित किसी कार्य का विधान जो उसके औचित्य का सूचक होता है (रूलिंग)। चीजों को सजाकर या ठिकाने से रखना या लगाना। कोई काम ठीक ढंग या उचित प्रकार से करना या उसे पूरा करने का आयोजन (अरेंजमेंट)। प्रबंध, इंतजाम (मैनेजमेंट)। वह अवस्था जिसमें सब काम ठीक तरह से होते हो (आर्डर)। सामने आया हुआ काम कर्तव्य के भाव से पूरा करना (डिस्पोजल, डिस्पोजीशन)। धन संपत्ति के बँटवारे, प्रबंध, आदि से संबंध रखने वाली योजना या इंतजाम (डिस्पोजीशन)। विधान, आदि में कोई उद्देश्य सिद्ध करने या किसी बात की गुंजाइश निकालने के लिये किया जानेवाला कोई कार्य या उसके लिये निकाला हुआ रास्ता, निर्देश (प्राविजन)' (हिंदी : वर्मा)। इसके कानूनी अर्थों को छोड़ कर आधुनिक हिंदी में इसका प्रयोग 'प्रबंध, इंतजाम' के अर्थ में ही प्रधानतः प्रचलित है। इसका यह अर्थ म० भा० आ० तथा न० भा० आ० बँगला, ओड़िया में भी प्रचलित है। प्रा० भा० आ० संस्कृत में इसका यह अर्थ नहीं दिखाई पड़ता।

उद्धृत अंश में इसका अर्थ 'अवस्था' है। तात्पर्य यह कि 'अवस्था' में 'वि' उपसर्ग लगाने पर भी यहाँ इसके अर्थ में परिवर्तन नहीं किया गया है। इसका यह अर्थ संस्कृत, प्राकृत तथा ओड़िया में भी प्राप्त है जैसा कि ऊपर के अर्थविवरण से स्पष्ट है। इसके आधुनिक हिंदी के अर्थ तथा उद्धृत अंश में इसके अर्थ को दृष्टि में रखकर विचार करने से यहाँ अर्थसंकोच का तत्व मिलता है।

> (२२) तब श्री आचार्य जी पूरनमल को आज्ञा दीनी, बेगे मंदिर **सँवरावो**। सो मंदिर की नींव खोदी। सो नींव भरी गई, इतने में पूरनमल को द्रव्य सब निपट गयो। तब पूरनमल कमायबे कों गए।
>
> — चौरासी०, पृ० २७७।

इसका संबंध प्रा० भा० आ० 'संस्कृत संभृ' धातु से जोड़ा जा सकता है। इस धातु का परस्मैपदी रूप 'संभरति' है और आत्मनेपदी रूप 'संभरते' (संस्कृत : मोनियर)। हिंदी की क्रिया 'सँभलना' का उद्गम भी यही धातु मानी जा सकती है : 'सँभरना, सँभलना'। प्राकृत में भी इसका 'संभर' रूप प्राप्त है (पाइअ : सेठ)। 'संभर + ना' से 'सँवरना' रूप इस प्रकार विकसित माना जा सकता है : 'संभरना - सँबरना - सँवरना'। उद्धृत अंश में इसका प्रेरणार्थक रूप व्यवहृत है।

प्रा० भा० श्रा० संस्कृत 'संभृ' के ये अर्थ प्राप्त होते हैं : 'लपेटना। (आत्मनेपद) (जबड़ा) बंद करना। संग्रह करना, जोड़ना, रचना, सजाना, तैयार करना, प्राप्त करना (किसी प्रकार की सामग्री – विशेषतः यज्ञ के लिये)। लौटाना, अदा करना, दे देना। रक्षा करना, भरण-पोषण करना। उपहार देना' (संस्कृत : मोनियर)। म० भा० आ० पालि में 'संभृ' से निर्मित रूप 'संभार' मिलता है, जिसके ये अर्थ हैं : 'जो एक साथ ले जाया गया हो, संग्रह। निर्माण, तैयारी। भोजन की सामग्री। अवयव। संग्रह करने की क्रिया' (पालि : रीज)। प्राकृत 'संभर' इन अर्थों में प्रयुक्त मिलता है : 'धारण करना। पोषण करना। संक्षेप करना, संकोच करना' (पाइअ : सेठ)। न० भा० आ० बँगला 'सामलान' के अर्थ 'रक्षा करना। संवरण करना। अपेक्षाकृत स्वस्थ होना' हैं (बाँगला : दास)। ओड़िया 'सँभाळ' के ये अर्थ मिलते हैं : 'समावृत। ढोया गया। शासित। धीर। क्षमा' (ओड़िया : प्रहराज)। सिंधी 'सँभारणु' का अर्थ 'रखवाली करना, देख भाल करना' है। मराठी 'सँभार' का अर्थ है : 'संग्रह' (नेपाली : टर्नर) हिंदी 'सँभालना' इन अर्थों में व्यवहृत मिलता है : किसी बोझ आदि का रोका या किसी कर्तव्य आदि का निर्वाह किया जा सकना। किसी आधार या सहारे पर रुका रहना। होशियार या सावधान होना। चोट या हानि से बचाव करना। रोग से छूट कर स्वस्थता प्राप्त करना, चंगा होना' (हिंदी : वर्मा)।

उद्‌धृत अंश के प्रसंग से स्पष्ट है कि इसमें इसका अर्थ 'तैयार कराना, निर्माण करवाना, बनवाना' है। ऊपर के अर्थविवरण में हमने देखा है कि संस्कृत 'संभृ' का एक अर्थ 'रचना, तैयार करना' मिलता है। पालि 'संभार' का भी एक अर्थ 'निर्माण, तैयारी' है। किंतु आधुनिक हिंदी में इसका यह अर्थ नहीं चलता। इससे ज्ञात होता है कि इसका संबंध इसके संस्कृत, पालि के अर्थ से है। विचार करने पर विदित होता है कि यहाँ अर्थसंकोच का तत्व निहित है।

(२३) तब त्योंही करत मंदिर सिद्ध भयो।

—चौरासी०, पृ० ५२।

इसका संबंध प्रा० भा आ० संस्कृत 'सिध्' धातु से है। संस्कृत 'सिध्' के कुछ ये अर्थ प्राप्त होते हैं : 'अच्छी तरह पकना। उत्पन्न होना, उदित होना'। संस्कृत 'सिद्ध' का एक अर्थ 'तैयार, पका हुआ (भोजन)' है (संस्कृत : मोनियर)। म० भा० आ० पालि 'सिज्झति, सिद्ध, सिद्धो' के उक्त संस्कृत अर्थ प्राप्त हैं (पालि : चाइल्डर्स, पालि : रीज)। प्राकृत 'सिज्झ' के दो अर्थ ये हैं; 'निष्पन्न होना, बनना। पकना' (पाइअ : सेठ)। न० भा० आ० बँगला 'सिद्ध' के ये अर्थ भी प्राप्त हैं : 'प्रस्तुत। पक्व' (बाँगला : दास)। ओड़िया 'सिद्ध' के भी अर्थ हैं : 'आग पर उबाला हुआ। पका हुआ' (ओड़िया : प्रहराज)। प्राचीन

तथा आधुनिक हिंदी में भी 'सिद्ध' के उक्त अर्थ नहीं प्राप्त हैं। 'सिद्ध' से विकसित 'सीझना' के ये अर्थ अवश्य मिलते हैं: 'आँच पर पकना या गलना। आग में पड़कर भस्म होना, जलना' (हिंदी : वर्मा)

इस प्रकार हम देखते हैं कि बँगला, ओड़िया, प्राकृत, संस्कृत में 'सिद्ध' के जो अर्थ मिलते हैं वे हिंदी में नहीं मिलते। वे 'सिद्ध' से विकसित हिंदी रूप 'सीझना' के अर्थ अवश्य हैं। हमने देखा है कि संस्कृत 'सिध्' का एक अर्थ 'उत्पन्न होना, उदित होना' है। प्राकृत 'सिज्झ' का एक अर्थ 'निष्पन्न होना, बनना' है; बँगला 'सिद्ध' का भी एक अर्थ 'प्रस्तुत' है। उद्धृत अंश में भी इसका अर्थ 'मंदिर' के प्रसंग में 'प्रस्तुत होना, बनना, तैयार होना' है। किंतु आधुनिक हिंदी में इसका प्रयोग इस अर्थ में अप्राप्त है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इसके इस अर्थ का संबंध इसके प्रा० भा० आ० तथा म० भा० आ० के अर्थ से विशेषतः जुड़ा हुआ है। देखा गया है कि आधुनिक हिंदी में इसका यह अर्थ नहीं मिलता। अतः यहाँ अर्थसंकोच का तत्व प्राप्त है।

(२४) क — मैं यासों दरसन कों नहिं अवत हों, जो हाट छोड़ दरसन को जाऊँ तो यहाँ वैष्णव सोदा कों फिरि जाय, जो और की हाट सों लेन लागें, तब मैं खाऊँ कहाँ ते ?

ख — तासों अब मैं सवारे प्रातःकाल दरसन करि पाछें हाट खोलूँगो।

—चौरासी०, पृ० ७६६, ७६७।

यह प्रा० भा० आ० संस्कृत 'हट्ट' का विकसित रूप है। संस्कृत में 'अट्टः' भी मिलता है, जो 'हट्ट' का ही विकसित रूप है। संस्कृत 'अट्टः हट्ट' के अर्थ 'बाजार। मेला' मिलते हैं (संस्कृत : मोनियर)। म० भा० आ० प्राकृत 'हट्ट' के अर्थ हैं : 'आपण, बाजार। दूकान' (पाइअ : सेठ)। न० भा० आ० बँगला 'हाट' का अर्थ 'साधारण लोगों द्वारा क्रय-विक्रय का स्थान' है (बाँगला: दास)। ओड़िया 'हाट' के अर्थ 'बाजार। मेला' हैं (ओड़िया : प्रहराज)। असमिया 'हाट' का अर्थ 'बाजार' है। 'पंजाबी 'हट्ट' का अर्थ 'दूकान' है। गुजराती 'हाट्' के अर्थ 'दूकान। बाजार' हैं। मराठी 'हाट्' का अर्थ 'बाजार' है (नेपाली : टर्नर)। हिंदी 'हाट' के अर्थ 'दूकान। बाजार' हैं (हिंदी : वर्मा)। किंतु आधुनिक हिंदी में यह 'बाजार' के अर्थ में ही प्रयुक्त मिलता है। प्रा० भा० आ० संस्कृत में इसका अर्थ 'बाजार' है। उसमें इसका अर्थ 'दूकान' नहीं है। म० भा० आ० काल में इसका अर्थ 'दूकान' मिलने लगा है।

उद्धृत अंशों में इसका अर्थ 'दूकान' है; 'बाजार' नहीं, जो आधुनिक हिंदी में प्रचलित अर्थ है। 'बाजार' में अनेक 'दूकानें' होती हैं। अतः यहाँ अंशी

(हाट) के अर्थ पर अंश ('दूकान') के अर्थ का आरोप होने से अर्थारोप का तत्व मिलता है, और इस अर्थारोप के माध्यम से यहाँ अर्थसंकोच का तत्व भी आया है, क्योंकि आधुनिक हिंदी में इसका 'दूकान' अर्थ अप्रचलित है। 'पंजाबी, गुजराती में इसका एक अर्थ 'दूकान' मिलता है।

अन्यत्र भी इसका अर्थ 'दूकान' प्राप्त है :

(क) गांधी हाटि पामीइ पुडी, रोग न आवइ एकै घडी।

—कान्हडदे०, पृ० १७८।

(ख) न चहुटइ मांडइ कोई हाट, ब्रन पढ़इ कस्याइ कवित्व भाट।

—नल०, पृ० ३८।

ग्रंथ संकेत

१. ओड़िया : प्रहराज = गोपालचंद्र प्रहराज, पूर्णचंद्र ओड़िया भाषा कोश, जिल्द १–७, दि उत्कल साहित्य प्रेस, कटक, जिल्दों का क्रमशः प्रकाशन सन् १९३१, '३२, '३३, '३४, '३५, '३७, '३८ ई०।

२. कान्हडदे० = रचयिता, पद्मनाभ, संपादक, कांतिलाल बलदेवराम व्यास, कान्हडदे प्रबंध, राजस्थान पुरातत्व मंदिर, जयपुर, सन् १९५३ ई०।

३. चौरासी० = रचयिता, गोकुलनाथ, संपादक, द्वारकादास पारिख, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, अष्टछाप स्मारक समिति, मथुरा, सं० २०१० वि०।

४. देशी० = रचयिता, हेमचंद्र, संपादक, आर० पिशेल, देशीनाममाला, भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, सन् १९३८ ई०।

५. दो सौ०–१
६. दो सौ०–२
७. दो सौ०–३
= रचयिता, गोकुलनाथ, संपादक, गोस्वामी श्री व्रजभूषण शर्मा द्वारकादास पारिख, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (तीन खंडों में), शुद्धाद्वैत एकेडमी, कांकरोली, सं० २००८ वि०।

८. न० भा० आ० = नव्य भारतीय आर्यभाषा।

९. नल० = रचयिता, महीराज, संपादक, भोगीलाल जयचंद भाई सांडेसरा, नल दवदंतीरास, महाराज सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ोदा, सन् १९५४ ई०।

१०. नेपाली : टर्नर = आर० एल० टर्नर, ए कॉम्परेटिव ऐंड एटिमॉलॉजिकल डिक्शनरी आव दि नेपाली लैंग्वेज, केगन पॉल, ट्रेंच, ट्रुब्नर ऐंड कंपनी, लिमिटेड, लंदन, सन् १९३१ ई०।

११. पर्सियन : स्टाइनगास = एफ० स्टाइनगास; ए कॉम्प्रिहेंसिव पर्सियन-इंग्लिश डिक्शनरी, केगनपॉल, ट्रेंच, ट्रुब्नर ऐंड कंपनी, लिमिटेड, लंदन, सन् १९४७ ई०।

१२. पाइअ : सेठ = हरगोविंददास टी० सेठ, पाइअ सद्द महण्णवो, कलकत्ता, सन् १९१९ ई० ।

१३. पालि : चाइल्डर्स = आर० सी० चाइल्डर्स, ए डिक्शनरी आव् पालि लैंग्वेज, लंडन, सन् १८७५ ई० ।

१४. पालि : रीज = टी० डब्ल्यू० रीज डेविड्स; विलियम स्टीड, पालि इंग्लिश डिक्शनरी, दि पालि टेक्स्ट सोसायटी, चिपस्टेड, सरे, सन् १९२१ ई० ।

१५. प्राचीन० = संपादक, मुनि जिन विजय प्राचीन गुजराती गद्यसंदर्भ, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, सं० १९८६ वि० ।

१६. प्रा० भा० आ० = प्राचीन भारतीय आर्यभाषा ।

१७. बाँगला : दास = ज्ञानेंद्रमोहनदास, बाँगला भाषार अभिधान (दो भागों में), दि इंडियन पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता, सन् १९३७ ई० ।

१८. म० भा० आ० = मध्य भारतीय आर्यभाषा ।

१९. माधवा०–कथा = रचयिता, दामोदर, संपादक, एम० आर० मजूमदार, माधवानल कथा (माधवानल कामकंदला प्रबंध के परिशिष्ट १ में) ओरियंटल इंस्टिट्यूट, बड़ोदा, सन् १९४२ ई० ।

२०. माधवा०–प्रबंध = रचयिता, गणपति, संपादक, एम० आर० मजूमदार, माधवानल कामकंदला प्रबंध, ओरियंटल इंस्टिट्यूट, बड़ोदा, सन् १९४२ ई० ।

२१. संस्कृत : मोनियर = मोनियर मोनियर विलियम्स, ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, आक्सफोर्ड एट क्लैरेंडन प्रेस, सन १८९९ ई० ।

२१. हिंदी : वर्मा = रामचंद्र वर्मा, प्रामाणिक हिंदी कोश, हिंदी साहित्य कुटीर, बनारस, साहित्यमाला कार्यालय, बनारस, सं० २००८ वि० ।

❀

मीरा से संबंधित विभिन्न मंदिर

पद्मावती शबनम

•

राजस्थान की भक्तिमती नारी मीरा बाई की ख्याति देश के कोने कोने में व्याप्त है। जितनी ही अधिक इनकी प्रशस्ति है उतना ही उलझा हुआ इनका जीवनवृत्त है। इतना ही नहीं, इस अपूर्व प्रशस्ति के ही कारण प्राप्त सामग्री में किंवदंतियों की संख्या विशेष है। मीरा बाई द्वारा पूजित मूर्ति एवं उनकी साधनास्थली को लेकर भी अनेक विवाद चल पड़े हैं।

'मीरा बाई का मंदिर' जैसी ख्याति के कई मंदिर प्रसिद्ध हैं। मेड़ता में चतुर्भुज जी का मंदिर, चित्तौड़गढ़ में कुंभश्याम के मंदिर के पास स्थापित एक अन्य मंदिर, आमेर में जगतशिरोमणि जी का मंदिर, नरपुर के किले में गिरधरलाल जी का मंदिर, डाकोर और द्वारिका में रणछोड़ जी का मंदिर, एवं वृंदावन में सूदन्ना बिहारी जी का मंदिर, सभी मीरा बाई द्वारा स्थापित होने का दावा रखते हैं। इन मंदिरों में स्थापित विभिन्न प्रतिमाएँ भी मीरा बाई द्वारा पूजित मानी जाती हैं। उपर्युक्त सभी मंदिर एवं उनमें स्थापित विभिन्न मूर्तियों का मीरा बाई से संबंधित होना संभव नहीं प्रतीत होता।

मंदिर एवं मूर्तियों के विषय में इस भ्रमात्मक धारणा का मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि मीरा नाम के कई व्यक्ति हुए हैं। न केवल स्त्रियों ने अपितु कई पुरुषों ने भी मीरा नाम को अपनाया है। एक मीरा बाई बाँसवाड़ा के पास किसी गाँव की निवासिनी थीं, वे आजन्म कुँवारी रहीं। इनकी रचनाओं का संग्रह बाँसवाड़े के प्रणामी पंथ के मंदिर में सुरक्षित है। दूसरी मीरा बाई मारवाड़ नरेश राठौड़ मालदेव की पुत्री थीं। तीसरी मीरा वृंदावन के गुसाईं तुलसीदास की पुत्री थीं। गुजरात में मीरा जी नाम के एक ब्राह्मण थे। कहा जाता है कि वे चैतन्य महाप्रभु से मिलने वृंदावन गए थे। एक सूफी संत मीरा शाह अजमेरी के नाम से प्रसिद्ध हुए। मीरादास नामक एक रामानंदी साधु भी हुए हैं जिन्होंने 'नरसी रो माहेरों' लिखा। स्पष्ट ही नाम के इस ऐक्य के कारण ही उपर्युक्त गड़बड़ी हुई है।

कानूनी दस्तावेजों के आधार पर वृंदावन में स्थित सूरजबिहारी जी के मंदिर के विषय में तो यह निश्चयपूर्वक ही कहा जा सकता है कि केवल नाम-

सामंजस्य के कारण ही इसका संबंध राजस्थान की प्रसिद्ध भक्तिमती नारी मीरा के साथ जुड़ गया है। मंदिर के वर्तमान मुतवल्ली श्री ठाकुर मंगलसिंह जी के पास मंदिर का जो पट्टानामा है उसके आधार पर यह मालूम होता है कि लक्ष्मी ठकुरानी साहिबा बीकानेर ने सन् १८८५ में इस पुराने मंदिर को मय जायदाद के गोविंद जी से लिया। ठाकुर मंगलसिंह जी के पास इस मंदिर से संबंधित एक फारकती भी है। इस फारकती के अनुसार लक्ष्मी ठकुरानी साहिबा बीकानेर ने मंदिर को किसी रामानंदी वैष्णव गोसाईं तुलसीदास की पुत्री मीरा बाई के हक में दान कर दिया। बाद में ठकुरानी साहिबा की आज्ञा से ही मंदिर में विराजित सूरजबिहारी जी के वर्तमान विग्रह की स्थापना सन् १८९८ में की गई। आजकल यही मंदिर मीरा बाई के राधामोहन जी का मंदिर कहलाता है। इस मंदिर को कबीर के गुरु रामानंद का भी स्थान माना जाता है। इसके पास ही रूप गोस्वामी एवं जीव गोस्वामी की समाधियाँ भी हैं। कहा जाता है कि यह स्थान कभी इन गोस्वामियों का निवास रहा है। वृंदावन के अन्य प्रतिष्ठित सज्जनों की मौखिक साक्षियाँ भी इस फारकती का समर्थन करती हैं। बहुत संभव है कि राजरानी भक्तिमती मीरा बाई से इसका संबंध जोड़ने का अनुचित प्रयास किसी स्वार्थवश किया गया हो।

यह भी संभव है कि मीरा बाई द्वारा की गई वृंदावनयात्रा एवं उस अवसर पर रूप गोस्वामी और जीव गोस्वामी से भेंट करने की जो कथा प्रचलित है उसके मूल में इस मंदिर की प्रचारित प्रशस्ति ही रही हो क्योंकि बहिः एवं अंतः साक्ष्य के आधार पर मीरा द्वारा की गई वृंदावन की यात्रा ही सर्वथा संदिग्ध है।

आमेर में स्थित जगतशिरोमणि जी के मंदिर में ही खुदे हुए शिलालेखों के आधार पर इस मंदिर से मीरा का संबंध संदिग्ध है। गरुड़ जी की संगमर्मर की चौकी पर ही निम्नांकित दोनों उल्लेख मिलते हैं—

(१) 'संवत् १६११ फागुन सुदी साता — संव का (?) सूत्रधार दो ही ये ईसर की से।'

(२) 'सं० १७१६ वि० सावनसुदी ८ — दास रो बेटा — दुबे नैण।'

इन दोनों शिलालेखों से कोई भी स्पष्ट तथ्य नहीं प्रकट होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि दोनों ही उल्लेख प्रामाणिक हैं या कोई एक है, या दोनों ही संदिग्ध हैं। इस विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि मीरा का कोई संबंध कभी आमेर से रहा हो, किंतु ऐसा कोई इंगित संपूर्ण प्राप्त सामग्री से कहीं नहीं मिलता। नरपुर के किले में स्थित ब्रजराज स्वामी के मंदिर और शिवराजपुर

(फतेहपुर) में स्थित गिरधरलाल के मंदिर के बारे में भी यही कहा जा सकता है कि उपर्युक्त स्थानों से मीरा का कोई संबंध रहा होगा, किंतु प्राप्त जीवनवृतांत के आधार पर इसका प्रमाण नहीं मिलता।

मेड़ता, चित्तौड़गढ़, डाकोर एवं द्वारिका में ही मीरा का जीवन व्यतीत हुआ। मीरा का बचपन मेड़ता में, विवाहित जीवन एवं तत्कालांतर व्याप्त संघर्ष चित्तौड़गढ में, तथा गृहत्याग के बाद जीवन का अंतिम काल द्वारिका में व्यतीत हुआ। अतः इन शहरों में मीरा की साधनास्थली का पाया जाना बहुत ही स्वाभाविक है तथापि मंदिरों में स्थापित विभिन्न विग्रहों के कारण उपर्युक्त मंदिरों की प्रामाणिकता अमान्य होती है। तथाकथित मीरा के पदों में संतमत, नाथ-पंथ एवं मधुरभावप्रधान वैष्णव मत, तीनों का ही बड़ा स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। तथापि सदा ही गिरधर गोपाल मीरा के प्रभु हैं। यह एकनिष्ठ एक रूपात्मकता ही मीरा की विशेषता है। उनका जीवनप्राण है। उपर्युक्त विभिन्न मंदिरों में प्राप्त विभिन्न विग्रहों के कारण यह एकोन्मुख प्रवाहित धारा अविच्छिन्न नहीं रह पाती। अतः इसकी प्रामाणिकता में सहज ही संदेह होता है।

इन सभी मंदिरों के कानूनी दस्तावेज एवं शिलालेखों के आधार पर गहरी खोज के बाद ही वास्तविकता का निर्णय किया जाना चाहिए।

*

विमर्श

निंबार्कसंप्रदाय में रसोपासना का इतिहास : पुनर्परीक्षण

रसोपासना के ऐतिहासिक विकासक्रम में निंबार्कसंप्रदाय की स्थिति अत्यधिक विवादास्पद है। निंबार्कमत में कम बातें ऐसी निकलेंगी जो निर्विवाद रूप से सबको स्वीकार्य हों। स्वयं निंबार्काचार्य के उद्भव के संबंध में परस्पर इतने भिन्न मत और प्रमाण उद्धृत किए जाते हैं कि सत्य उन प्रमाणों से ही आच्छन्न हो जाता है तथा रसोपासना के क्षेत्र में विवाद और संशय का क्षेत्र बहुत अधिक बढ़ जाता है। निंबार्कीय मानते हैं कि रसोपासना या युगलोपासना के प्रणेता निंबार्काचार्य ही थे; प्रमाणस्वरूप दशश्लोकी का पाँचवाँ श्लोक—

अंगे तु वामे वृषभानुजा मुदा, विराजमानामनुरूप सौभगाम्।
सखी सहस्रैः परिसेविता मुदा, स्मरेम देवीं सकलेष्ट कामदाम्॥

उद्धृत किया जाता है। निंबार्क का समय भी संप्रदाय के उत्साही शोधक विक्रम की ६ठीं से ८वीं शताब्दी तक निश्चित करते हैं।[1] इस प्रकार दशश्लोकी का समय भी यही हो जाता है। परंतु दूसरी ओर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दशश्लोकी को १६वीं शती की प्रक्षिप्त रचना माना है।[2] निंबार्कसंप्रदाय के रस संबंधी ग्रंथों, आदिवाणी और महावाणी, के संबंध में पर्याप्त शंका प्रकट की गई है। पर्याप्त विचार एवं मनन के बाद हमारा मत है कि निंबार्कसंप्रदाय में मधुर रागमयी उपासना बाद को प्रचलित हुई है।

इस स्थापना का प्रथम प्रमाण यह है कि निंबार्कसंप्रदाय के संस्कृतग्रंथों में हमें माधुर्य उपासना के विवरण लगभग नहीं ही उपलब्ध होते हैं। इस बात को

१. (क) श्री व्रजवल्लभशरण वेदांताचार्य, युगलशतक की भूमिका, पृ० १६ - २०।
(ख) डा० नारायणदत्त शर्मा, निंबार्कसंप्रदाय और हिंदी कृष्णभक्त कवि पृ० १४ - १५।

२. डा० ह० प्र० द्विवेदी, हिंदी साहित्य, पृ० ११६।

स्वयं निंबार्क के अन्य शोधक भी स्वीकार करते हैं।[3] यदि दशश्लोकी को प्रमाण भी माना जाय तो उससे सखीभावोपासना या युगलस्वरूप की वैसी स्पष्ट कल्पना प्राप्त नहीं होती। इसके अतिरिक्त इन संस्कृतग्रंथों में युगलोपासना के सहचरी-रूप का समुचित विवरण उपलब्ध नहीं होता। यह आश्चर्य की बात कही जायगी कि जो छिपाने की वस्तु है वह जनभाषाओं में व्यक्त हो गई थी, जो भाषा उसे छिपा सकती थी उसमें वह अप्रकट ही रही। गीता की केशव काश्मीरी कृत तत्वार्थप्रकाशिका व्याख्या की अनुक्रमणिका में भगवान् के जन्म लेने का प्रयोजन बताया गया है, जो इस प्रकार है—

> भागवत धर्म के प्रचलन का अभाव देख कर संसारी जनों के उद्धार के लिये अपने स्वरूप, ज्ञान और भक्ति का प्रचार करने के लिये तथा अपने दर्शनार्थ चातकवत् उत्कंठित अनन्याश्रित प्रेमी भक्तों को अलाप, मनोहर लीला आदि उनकी मनोभिलाषापूर्ति करने के लिये अपने समग्र गुण और शक्ति समेत भूभारहरण के बहाने से भगवान् श्री कृष्ण प्रकट हुए थे।

इस अंश को उद्धृत करते हुए डा० नारायणदत्त शर्मा ने निष्कर्ष निकाला है कि इसमें भगवान् के आविर्भाव का प्रयोजन भक्तों की रसमयी उपासना को ही बतलाया है।[4] हम इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं। भगवान् के अवतार का हेतु भक्तों को लीलादर्शन कराना, आनंद देना है, यह मंतव्य भक्तिकाल के संपूर्ण संप्रदायों का रहा है। तुलसीदास ने भी 'भगतहेतु' भगवान् राम का जन्म लेना माना है एवं गौड़ीय वैष्णवों में भी विश्वास था कि भक्तों पर अनुग्रह करने एवं स्वलीला-कीर्ति-विस्तार के लिये भगवान् प्रकट होते हैं।[5]

संस्कृत एवं हिंदी की इन रसमयी उपासनावाले ग्रंथों में निंबार्क की सिद्ध-देह को लेकर भी दो परंपराएँ प्रकट हुई हैं। पुरानी सांप्रदायिक परंपरा के अनुसार वे भगवान् विष्णु के सुदर्शनचक्र के अवतार हैं एवं वाणीग्रंथों के अनुसार उन्हें रंगदेवी सखी का अवतार माना गया है। स्पष्ट है कि एक भगवान् विष्णु और उनके विभुत्व तथा शक्तिशालित्व से संबंधित परंपरा है, दूसरी कृष्ण के माधुर्य एवं विलास से संबंधित है। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि रसमयी उपासना की परंपरा संप्रदाय की नवीन अर्जित संपत्ति है। यह बात तनिक भी अपमानजनक नहीं होगी कि नयी परिस्थितियों में उपासना का

३. डा० नारायणदत्त शर्मा : निंबार्कसंप्रदाय और हिंदी कृष्णभक्त कवि।
४. वही।
५. लघु-भागवतामृत, पृ० २७१।

नवीनीकरण किया जाय। यह बात दूसरी है कि इसे स्वीकार कर लेने से समस्त माधुर्यभावना का स्रोत एवं प्रयोक्ता बनने का गौरव छिन जाता है। पर हिंदी-काव्य में तो इस परंपरा के प्रथम प्रयोक्ता का गौरव शेष रह ही सकता है। कुछ विद्वानों ने इस गौरव को शोध की अधिकृत मुहर लगाकर प्रामाणिक बना देना चाहा है।[६]

माधुर्योपासना के क्षेत्र में दो स्पष्ट परंपराएँ देखी जा सकती हैं। एक को हम व्रजलीलागायकों की परंपरा कह सकते हैं। दूसरी परंपरा शुद्ध वृंदावन-माधुरी या निंकुजलीला के गान की है, जिसमें प्रवेश सखीभाव से ही हो सकता है। निंबार्कसंप्रदाय के वाणीसाहित्य एवं तत्संबंधी लेखन में यह दोनों परंपराएँ विचित्र भाव से गुँथी हुई हैं। कभी कभी ऐसा लगता है कि अत्यंत योजनाबद्ध रूप से यह चेष्टा हुई है कि समस्त परंपराओं के उल्लेख्य प्रसंगों या विचारों को अपने संप्रदाय के अंतर्गत भी दिखाया जाय एवं इन बातों को संप्रदाय के साहित्य में काफी पहले का दिखाकर परंपरा के प्रस्थापक की महिमा भी बटोर ली जाय।

श्री भट्ट की आदिवाणी एवं श्री हरिव्यास देव की महावाणी इस संप्रदाय की रसोपासना के मुख्य आकर ग्रंथ हैं। परंतु इन दोनो के कालनिर्णय के संबंध में बड़ा भ्रम है। नाभादास के भक्तमाल में इन दोनों व्यक्तियों का उल्लेख हुआ है, इससे इतना तो निश्चित हो जाता है कि १७वीं शती विक्रमी के पूर्वार्ध में ये अवश्य उपस्थित रहे होंगे। यों अभी हाल में ही नाभा जी के भक्तमाल में १८वीं शती के प्रथम दशक के कवियों (यथा भगवतमुदित एवं राधावल्लभीय चतुर्भुजदास) का संकेत प्राप्त किया गया है।[७] और इसे स्वीकार कर लेने पर उन महानुभावों का समय विक्रम की १७ वीं शती के अंतिम भाग तक खींचा जा सकता है। तथा 'नयन बान पुनि राम गनौं अंक गति बाम' में 'राम' के स्थान पर 'राग' पढ़ने से

६. (क) श्री भट्ट जी एवं हरिव्यास देव जी रसिक भावना के क्षेत्र में सभी रसिकों के पूर्ववर्ती थे।...अतः निकुंजोपासना प्रवर्तन का श्रेय निंबार्कसंप्रदाय के आचार्यों को ही जाता है।

—डा० ना० द० शर्मा : अप्र० प्रबं०, पृ० ६०१

(ख) श्री भट्ट जी व्रजवाणी के सर्वप्रथम अमरगायक हैं।...'युगलशतक' की परमपवित्र परिष्कृत एवं ललित भाषा व्रजकाव्य का प्रथम रूप है।

— वही पृ० ६०३ - ६०४

७. वासुदेव गोस्वामी, नागरीप्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६७ अंक ३ - ४।

जो संवत् १६५२ समय आता है उसकी भी रक्षा हो सकती है पर इधर यह सिद्ध हो गया है कि यह दोहा बाद में जोड़ा गया है, पुरानी प्रतियों में उपलब्ध नहीं है।[८] डा० गोपालदत्त शर्मा ने उनका समय सं० १५५० के आसपास अनुमान किया है। संवत् के विवाद में पड़ना हमारा उद्देश्य नहीं है, पर हमारा अनुमान है कि श्री भट्ट जी १६वीं शती वि० के उत्तरार्ध के पूर्व नहीं थे। डा० गोपालदत्त जी ने इसी प्रसंग में आगे हरिव्यास देव जी का समय १६२५ के आसपास माना है, जो अधिक संतुलित प्रतीत होता है।[९] यह संवत् नृसिंहपरिचर्या के लेखन के आधार पर है। नृसिंहपरिचर्या उतनी महत्वपूर्ण पुस्तक नहीं है अतः बहुत संभव है कि हरिव्यास देव का उल्लेख्य कार्यकाल इसके बाद का संवत् १६५० के आसपास का हो।

अस्तु, डा० गोपालदत्त शर्मा द्वारा सुझाए गए संकेतों को स्वीकार कर लेने के बाद भी आदिवाणी एवं महावाणी को और अधिक परवर्ती मानने के लिये हम बाध्य हैं। कहा जाता है कि इन दोनों ग्रंथों का संकलन श्री रूपरसिक देव जी ने किया था। निंबार्कसंप्रदाय के योगदान की प्राचीनता के अत्यंत उत्साही समर्थक डा० नारायणदत्त शर्मा ने लिखा है—युगलशतक को निज भजन - भाव - रुचि से श्री रूपरसिक जी ने ही विभिन्न सुखों में विभाजित किया है। ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन हो जाता है कि इस संकलन में रूपरसिक देव जी की स्वयं की कितनी भजन - भाव - रुचि मिल गई है। इस समय युगलशतक की जो प्रकाशित प्रति प्राप्त है, उसमें भी उसके संपादक - प्रकाशक ने भाषा छंदादि के परिवर्तन कर दिए हैं।[१०] फिर प्राचीन प्रतियों में भी छंदसंख्या को लेकर लगभग दुगने का अंतर है। अर्वाचीन प्रतियों में १०० दोहे और १०० पद मिलते हैं, जब कि प्राचीन प्रति में ६२ पद और १२ दोहे। इस प्रकार दोहे और पद मिलाकर संख्या १०४ हो जाती है। ऐसी स्थिति में युगलशतक की प्राचीनता अथवा प्रामाणिकता पर अत्यधिक शंका उठती है। नाभादास के छप्पय से इतना तो सिद्ध है कि वे मधुरभावरूप भगवान् की ललित - लीला - संवलित छवि को देखने गए थे एवं उस प्रेम की वर्षा में सुंदर कविताएँ भी लिखी थीं।[११] पर इस प्रेम और लीला के स्वरूप में कितना इन परवर्ती संशोधकों ने

८. डा० गोपालदत्त शर्मा, स्वामी हरिदास संप्रदाय और वाणीसाहित्य (अप्रकाशित) पृ० ४८३।

९. वही।

१०. डा० नारायणदत्त शर्मा, अप्रकाशित प्रबंध।

११. भक्तमाल।

जोड़ा है, इसका निर्णय नितांत दुष्कर हो गया है। बहुत संभव है कि यह लीला-माधुरी सूरदासादि के समान रही हो। पर इतना अवश्य लगता है कि निंबार्क-संप्रदाय की वैधी परंपरा के स्थान पर रागमयी भक्ति के क्षेत्र में श्री भट्ट जी का प्रवेश हो गया था।

आदिवाणी (युगलशतक) से भी अधिक विवाद हरिव्यास देव जी की महावाणी को लेकर है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तो उसे १६वीं शती की रचना माना है।[12] नाभादास ने अपने भक्तमाल में उन्हें परम वैष्णव, देवी को भी दीक्षा देनेवाला बताया है, पर इनकी रसरीति की चर्चा नहीं की है। हरिराम व्यास ने भी महावाणी जैसे वाक्सिद्ध रसग्रंथकार का उल्लेख नहीं किया है। अतः यह शंका होती है कि महावाणी का सृजन उनके द्वारा नहीं हुआ। निंबार्कीय इसका कारण यह बताते हैं कि अत्यधिक गोप्य होने के कारण ही इसका प्रचार नहीं हुआ। पर गोपनीयता की बात तो रसोपासकों ने प्रत्येक संप्रदाय में कही है। इससे भी अधिक शंकित कर देनेवाला तथ्य है कि महावाणी हरिव्यास देव जी ने रूपरसिक देव जी को स्वप्न में प्रदान की थी और उसकी रससाधना को विस्तार देने का आदेश दिया था। यही नहीं परशुराम देव जी से विरक्त वैष्णवी दीक्षा ग्रहण करने का भी उन्हें आदेश हुआ था।[13]

इस तथ्य को तनिक इस क्रम में रखकर विचार किया जाय तो बात अधिक स्पष्ट हो जाती है—

१ – हरिव्यास देव जी को अपने जीवनकाल में रसिकसाधक के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त नहीं हुई थी। यों श्री भट्ट जी के प्रभाव में वे लीला-रस-समुत्सुक रहे हों, पर उसके समर्थ प्रस्तोता या प्रयोक्ता वे नहीं थे।

२ – उन्होंने महावाणीलेखन स्वयं नहीं किया था, बल्कि स्वप्न में रूपरसिक देव जी को प्रदान किया था।

३ – हरिव्यास देव जी के १२ प्रमुख शिष्य थे और इनमें भी सलेमाबाद-पीठ के परशुराम देव जी सर्वप्रमुख थे। हरिव्यास देव जी ने इनमें से किसी को भी अपनी रसरीति प्रदान नहीं की।

१२. आचार्य ह० प्र० द्विवेदी, हिंदी साहित्य, पृ० १८१।
१३. डा० ना० द० शर्मा, पृ० ३२० - अप्रकाशित।

४ – रूपरसिक देव जी ने परशुराम देवाचार्य से ही वैष्णवदीक्षा ग्रहण की, अतः उन्हीं के शिष्य हुए।

५ – परशुराम देव जी बड़े आचार्य ही नहीं थे, समर्थ कवि भी थे, 'परशुरामसागर' उनका प्रमुख काव्यग्रंथ है, जिसके आधार पर डा० नारायणदत्त शर्मा ने निर्णय दिया है कि—'परशुराम देव जी महान् कवि हैं'।[१४]

६ – इस ग्रंथ का मुख्य प्रतिपाद्य शृंगार या माधुर्य भाव नहीं है। इसका मुख्य रस शांत है एवं निर्गुणी परंपराओं को इसमें जमकर अभिव्यक्ति मिली है।

७ – ऐसी स्थिति में यदि यह निष्कर्ष निकाला जाय कि रूपरसिक देव जी के मन में परशुराम जी की निर्गुण - सगुण - समन्वय वाली भावना के प्रति विशेष आकर्षण नहीं था, बल्कि उसके स्थान पर समकालीन रसोपासना उन्हें आकर्षित कर रही थी। आधुनिक मनोविज्ञान का स्वप्नदर्शन इस आधार पर यही कहेगा कि उनके अवचेतन में पड़ी इन दोनो बातों ने ही स्वप्न में आकार ग्रहण किया। गुरु के प्रति जो अनाकर्षण था उसने गुरु के भी गुरु को स्वप्न में बुला लिया एवं युगल की रसमयी उपासनाशैली तो प्रत्यक्ष ही प्रकट हुई। इस प्रकार निंबार्कीय होते हुए भी वे निंबार्कीय परंपराओं से अलग हुए एवं अन्य समकालीन कवियों अथवा साधनाओं से प्रभावित होकर महावाणी की रचना रूपरसिक जी ने की। डा० नारायणदत्त शर्मा ने भी स्वीकार किया है कि रूपरसिक जी के हाथों भी कुछ संस्कार संभव है। इसकी प्रतीति 'हरिव्यासयशामृत' में महावाणी के महिमागान से होती है।

८ – निंबार्कीय परंपराओं से पृथक् हो जाने की बात इससे भी सिद्ध होती है कि रूपरसिक देव के समकालीन या परवर्ती वृंदावन देवाचार्य (विक्रम की १८वीं शती के उत्तरार्ध) का गीतामृतगंगा ग्रंथ नहीं है, जैसा कि महावाणी है।

रूपरसिक देव जी के कालनिर्णय का झगड़ा फिर खड़ा होता है। उनके ग्रंथ 'लीलाविंशति' के संवत्निर्धारण के लिये दो पाठों वाला दोहा

१४. डा० ना० द० शर्मा : अप्र०, पृ० ३११।

प्राप्त है। एक में 'संवत् पंदरासै जु सत्यासिया' आता है एवं दूसरे पाठ में 'सतरासै जु सत्यासिया' बताया गया है। इस संबंध में एक तथ्य की ओर इंगित करना उपयुक्त होगा। रूपरसिक देव जी परशुराम देव जी से दीक्षा लेते हैं एवं परशुराम जी का समय संवत् १६८० के बाद तक माना जाता है। इधर रूपरसिक देव के समय के बारे में हमें कुछ अन्य तथ्य भी प्राप्त हुए हैं। वंशी अलि जी के शिष्य किशोरी अलि जी की वाणी का संग्रह हमें उपलब्ध हुआ है। प्रति १६वीं शती की प्रतीत होती है, तथा खंडित भी है। इस प्रति में संवत् १८३१ तक के पत्रादि भी संगृहीत हैं। इसके आधार पर ज्ञात होता है कि रूपरसिक जी १८वीं शती के अंत एवं १६वीं शती के प्रारंभ में विद्यमान थे। इस आधार पर परशुराम देव एवं हरिव्यास देव का समय और अधिक परवर्ती सिद्ध होता है।

— देवीशंकर अवस्थी

*

हिंदी का पहला उपन्यास

हिंदी का पहला उपन्यास कौन सा है, इस बात का निर्णय अद्यावधि नहीं हो सका है। यह विचारणीय है कि इस प्रश्न पर अभी तक किसी ने ध्यान नहीं दिया। प्रस्तुत निबंध में इस समस्या का, विवेचन करने का प्रयास है।

सर्वप्रथम आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी रचित 'भाग्यवती' को सामाजिक उपन्यास और 'परीक्षा गुरु' को अँगरेजी ढंग का पहला हिंदी उपन्यास कहा था।[1] तबसे आज तक उपन्यासविषयक यह बात दुहराई जा रही है। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक के मतानुसार न तो 'परीक्षा गुरु' हिंदी का पहला उपन्यास है, न 'भाग्वती'; यद्यपि हिंदी के कुछ विद्वानों ने 'भाग्यवती' को ही हिंदी का प्रथम उपन्यास सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[2]

किसी भी कृति के उपन्यास कहलाने के लिये यह आवश्यक है कि वह गद्यकथा हो। हिंदी में उन्नीसवीं शताब्दी में लिखित गद्यकथाओं का कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं है। अतः पहले हम यही देखें कि १८६० ई० के पूर्व हिंदी में किन किन मौलिक गद्यकथाओं की रचना हुई थी। तभी हम यह निर्णय कर सकते हैं कि हिंदी का पहला उपन्यास कौन है। यहाँ

1. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास।
२. विजयशंकर मल्ल, (सं०) भाग्यवती, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, परिचय।

सन् १८०१ - १८६० ई० में लिखित हिंदी की मौलिक गद्यकथा-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

रानी केतकी की कहानी

'रानी केतकी की कहानी' हिंदी की प्रथम मौलिक गद्यकथा है। इसके लेखक हैं, सैयद इंशा अल्ला खाँ। 'रानी केतकी की कहानी' का ठीक रचनाकाल ज्ञात नहीं है। श्री व्रजरत्नदास के अनुसार[3] इसका लेखनकाल सं० १८६० वि० (१८०३ ई०) के लगभग है। बाबू श्यामसुंदर दास इसका रचनाकाल सं० १८५६ - १८६५ के बीच मानते हैं।[4] सैयद इंशा अल्ला खाँ द्वारा लिखित प्रति का कहीं कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता, इस कारण इस कथापुस्तक की ठीक रचनातिथि आज तक ज्ञात नहीं हो पाई है। इस कथा को सर्वप्रथम मुंशी हरीराम पंडित ने देवनागरी में छापा था, जो आज अलभ्य है। इस संस्करण का उल्लेख 'रानी केतकी की कहानी' के दूसरे संस्करण में है,[5] पर मुद्रणकाल ज्ञात नहीं हो पाता।

इसका दूसरा संस्करण 'पौष सुदी ईकम संवत् १६०३ वि०' (दिसंबर १८४६ अथवा जनवरी १८४७) में श्री विष्णुनारायण पंडित द्वारा मुद्रित हुआ। इस प्रति की पूरी सूचना और इसके मुख पृष्ठ की प्रतिलिपि बाबू व्रजरत्नदास ने 'इंशा, उनका काव्य तथा रानी केतकी की कहानी' में दी है।[6] सन् १८६७ ई० में 'हिंदी सलेक्शंस' नामक पुस्तक में यह कहानी संक्षिप्त रूप में प्रकाशित हुई।[7] १८७४ ई० में राजा शिवप्रसाद ने इसे अपने गुटके में 'कहानी ठेठ हिंदी में'

३. व्रजरत्नदास, इंशा, उनका काव्य तथा रानी केतकी की कहानी, कमलमणि ग्रंथमाला कार्यालय, काशी, प्रथम संस्करण, सं० १६८६ वि०।

४. रानी केतकी की कहानी, नागरीप्रचारिणी सभा, २००७ वि०, भूमिका।

५. 'यह कहानी बहुत दिन पहले मुंशी हरीराम पंडित ने देवनागरी अक्षर में छापी थी पर अब नहीं मिलती और बहुत लोगों को ठेठ हिंदी बोली में इन दिनों कहानी पढ़ने की चाह रहती है इसलिये मुंशीजी की मूल कहानी की दूसरी बेर छ सौ चालीस पुस्तक छपवाया।' रानी केतकी की कहानी सं० १६०३ पौष सुदी ईकम के आवरण पृष्ठ से प्राप्त सूचना, व्रजरत्नदास द्वारा संपादित 'इंशा, उनका काव्य तथा रानी केतकी की कहानी' भूमिका में उद्धृत।

६. वही, भूमिका।

७. हिंदी सलेक्शंस, कंपाइल्ड बाइ दि आर्डर आव् दि गवर्नमेंट इंडिया...बनारस, प्रिंटेड ऐट दि मेडिकल हाल प्रेस १८६७ (राष्ट्रीय पुस्तकालय, कलकत्ता)।

शीर्षक से, ईषत् परिवर्तन के साथ प्रकाशित किया।[८] १६०५ ई० में यह कहानी 'उदेभान चरित' शीर्षक से ऐंग्लो ओरिएंटल प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित हुई, जिसकी एक प्रति आर्यभाषा पुस्तकालय, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी में उपलब्ध है। सन् १६२५ ई० में बाबू श्यामसुंदर दास ने दो प्राचीन प्रतियों के आधार पर इस कहानी का संपादन किया तथा यह पुस्तक नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हुई। सन् १६२८ ई० में बाबू व्रजरत्नदास ने छह प्राचीन प्रतियों के आधार पर 'रानी केतकी की कहानी' का नवीन संस्करण प्रकाशित कराया।

'रानी केतकी की कहानी' के विभिन्न संस्करणों को देखने से यह सिद्ध होता है कि यह उन्नीसवीं शताब्दी की एक महत्वपूर्ण गद्यकथा समझी जाती थी, और कदाचित् सामान्य जनता में इसका प्रचार भी बहुत था। पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने नवंबर १६११ ई० की 'मर्यादा' में प्रकाशित अपने 'सैयद इंशा अल्ला खाँ' शीर्षक निबंध में लिखा था—'आजकल हिंदी लेखक कदाचित् लल्लूलाल जी के प्रेमसागर या इंशा अल्ला की रानी केतकी की कहानी से पूरे परिचित न हों या इन्होंने उन्हें देखा भी न हो, पर आज से तीस या चालीस वर्ष पहले इन पुस्तकों का बड़ा प्रचार था और ये स्कूलों में पढ़ाई जाती थीं, जिन्हें पढ़कर लोग हिंदी पढ़ना लिखना सीखते थे। राजा शिवप्रसाद के पुराने गुटके में प्रेमसागर के साथ साथ रानी केतकी की कहानी भी संग्रह की गई थी, पर अब इधर कदाचित् हिंदी जाननेवालों में इसका नाम कम ही सुनाई देता होगा'। पं० केदारनाथ पाठक के कथनानुसार किसी समय इस कहानी का इतना प्रचार था कि कुछ लोग इसे आल्हा की तरह याद कर लोगों को सुनाया करते थे और उसी से अपना जीविकोपार्जन किया करते थे।[९]

१६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में 'रानी केतकी की कहानी' मौलिक गद्यकथा के रूप में एक अपवाद ही है। इस युग में अनूदित गद्यकथाओं की ही भरमार दिखाई देती है।

देवरानी जेठानी की कहानी

हिंदी गद्यकथा साहित्य के इतिहास में १८७० ई० का वर्ष बड़ा महत्वपूर्ण है। इस वर्ष हिंदी में लगभग ७० वर्षों के बाद एक मौलिक गद्यकथा लिखी गई जो अनेक दृष्टियों से प्राचीन कहानियों से सर्वथा भिन्न तथा एक नए प्रकार के

८. व्रजरत्नदास, वही, भूमिका।
९. वही।

साहित्यरूप का, जिसे बाद में उपन्यास की संज्ञा दी गई, आरंभबिंदु है। यह कथापुस्तक है, पं० गौरी दत्त लिखित 'देवरानी जेठानी की कहानी'। यह सन् १८७० ई० में जिमाई छापाखाना, मेरठ से प्रकाशित हुई थी। राष्ट्रीय पुस्तकालय कलकत्ता में इस पुस्तक की एक प्रति संगृहीत है।[१०]

इस कथापुस्तक से, जैसे मौलिक कथापुस्तकों की रचना का द्वार ही खुल गया। अगले बीस वर्षों तक हिंदीपाठकों की अल्पता के बावजूद, मौलिक गद्य-कथाएँ लिखी जाती रहीं और कथासाहित्य में विषय और शिल्प संबंधी नए नए प्रयोग होते रहे। इन्हीं प्रयोगों के गर्भ से हिंदी उपन्यास का उद्भव और विकास हुआ।

वामा शिक्षक

इसके दो वर्ष बाद सन् १८७२ ई० में मुंशी ईश्वरीप्रसाद और मुंशी कल्याण राय ने मिलकर 'वामा शिक्षक' नामक एक स्त्रीशिक्षाप्रधान मौलिक गद्य-कथा की रचना की, जो लिखे जाने के ११ वर्ष बाद १८८३ ई० में विद्यादर्पण छापाखाना मेरठ से प्रथम बार मुद्रित हुई। आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी में इस पुस्तक की एक प्रति संगृहीत है।[११]

स्त्री उपदेश दर्पण

१८८६ ई० में प्रकाशित 'स्त्री उपदेश' (ले० पं० माधवप्रसाद) की भूमिका से ज्ञात होता है कि उक्त लेखक ने १८७५ ई० के पूर्व इसी ढंग की एक

१०. आवरण पृष्ठ की प्रतिलिपि – देवरानी जेठानी की कहानी एक वृद्ध और लिखी पढ़ी स्त्री की संमति में पंडित गौरी दत्त ने बनाई। श्री एम० केमसन साहिब बहादुर डैरेक्टर आफ पबलिक इंस्ट्रक्शन के द्वारा श्रीमन्महाराजाधिराज पश्चिम-देशाधिकारी श्रीयुक्त लेफ्टिनेंट गवर्नर बहादुर के यहाँ से १०० रुपये इनाम मिले। मेरठ छापेखाने जिमाई में छापी गयी सन् १८७०।

११. आवरण पृष्ठ की प्रतिलिपि – वामा शिक्षक अर्थात् दो भाई और चार बहनों की कहानी जिसको मुंशी ईश्वरीप्रसाद मुदर्रिस रियाजी और मुंशी कल्याण राय मुदर्रिस अव्वाल उर्दू मदरसे दस्तूर तालीम मेरठ जाति काईस्त क्षत्रियों ने सन् १८७२ ई० में बनाई और खाक पाय कल्याण राय ने छापेखाने विद्या दर्पण मेरठ में छपवाई। सन् १८८३ ई० पहली बार २०० पुस्तक और नौछावर प्रति पुस्तक १० आने।

'श्री दर्पण' नामक कथापुस्तक लिखी थी, जो नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित हुई थी। यह पुस्तक मेरे देखने में नहीं आई।

मालती (उपन्यास)

सन् १८७५ में 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' के दो अंकों (फरवरी और मार्च १८७५) में 'मालती' नामक 'उपन्यास' अपूर्ण रूप में प्रकाशित हुआ।[12] इस गद्यकथा के शीर्षक (मालती) के आगे कोष्ठक में 'उपन्यास' शब्द दिया हुआ है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इसके पूर्व किसी हिंदी गद्यकथा को 'उपन्यास' संज्ञा नहीं दी गई थी। दुर्भाग्यवश इस उपन्यास के रचयिता का पता नहीं लगता।

भाग्यवती

सन् १८७७ ई० में पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी ने 'भाग्यवती' शीर्षक गद्यकथा की रचना की। श्री विजयशंकर मल्ल के अनुसार इसका प्रकाशन दस वर्ष बाद सन् १८८७ में हुआ।[13] श्री मल्ल ने यद्यपि अपने कथन के समर्थन में कोई प्रमाण नहीं दिया है, पर उनकी सूचना सही जान पड़ती है। 'हिंदी प्रदीप' जिल्द १०, सं० ८, अप्रैल १८८७ में 'भाग्यवती' की संक्षिप्त समीक्षा प्रकाशित हुई थी, जिससे इसके १८८७ ई० में प्रकाशित होने का अनुमान किया जा सकता है। 'भाग्यवती' का प्रथम मुद्रित संस्करण मुझे उपलब्ध नहीं हो सका है। इसका पाँचवाँ संस्करण, जो १९१२ ई० में प्रकाशित हुआ था, आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी में है।[14] स्वयं लेखक द्वारा लिखित इसकी भूमिका के नीचे सं० १९३४ वि० तिथि अंकित है।[15] इससे इसके रचनाकाल का पता चलता है।

१२. 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' के फरवरी और मार्च १८७५ ई० के अंक; आ० भा० पु० काशी में संगृहीत।

१३. विजयशंकर मल्ल (सं०) भाग्यवती, हिंदीप्रचारक पुस्तकालय, सितंबर १९६०, परिचय।

१४. मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि – भाग्यवती स्त्रीशिक्षा की अपूर्व पुस्तक श्रीमत् पं० श्रद्धाराम जी फुल्लौर निवासी रचित। स्वदेशीय बालिकाओं के उपकारार्थ श्री पं० जी की विधवा पं० महताब कौर द्वारा प्रकाशित श्री मन्महाराजाधिराज पंजाब देशाधिकारी श्रीयुत नव्वाब लेफ्टिनेंट गवर्नर बहादुर की प्रेरणा से श्रीमान् डाइरेक्टर साहिब शिक्षा विभाग पंजाब की आज्ञानुसार पुत्री पाठशालाओं में स्वीकृत और भारत खंड के अन्य शिक्षा विभागों में भी प्रचलित सर्वाधिकार स्वाधीन है। संवत् १९६९ सन् १९१२ ई० पंचम आवृत्ति २००० प्रति मूल्य ।॥) बांबे मशीन प्रेस, लाहौर, पृ० सं० १००।

१५. उपरिवत्।

श्री विजयशंकर मल्ल के अनुसार १८८७ ई० में 'भाग्यवती' के प्रकाशित होने पर इसकी बड़ी सराहना हुई थी। प्रायः सभी प्रमुख पत्र पत्रिकाओं ने इसकी प्रशंसा में टिप्पणियाँ लिखीं।[१६] १८८७ ई० से लेकर १६१२ ई० तक इसके पाँच संस्करणों का प्रकाशित होना इसकी लोकप्रियता का सूचक है, यद्यपि यह भी नहीं भूलना चाहिए कि यह बालिकाओं के लिये पाठ्यपुस्तक के रूप में स्वीकृति थी।

तपस्विनी

सन् १८७६ ई० में 'सारसुधानिधि' के २८ अप्रैल और १२ मई के अंकों (भाग १, अंक १६, १८) में 'तपस्विनी' शीर्षक कथापुस्तक के प्रथम अध्याय के दो परिच्छेद प्रकाशित हुए।[१७] 'सारसुधानिधि' के अन्य अंकों में जो आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी में उपलब्ध हैं, यह पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई। संभवतः यह कथा पूरी नहीं हो सकी।

रहस्यकथा उपन्यास

इसी वर्ष पं० बालकृष्ण भट्ट लिखित 'रहस्यकथा उपन्यास' हिंदी प्रदीप (जिल्द ३, सं० ३, नवंबर १८७९ ई०) में प्रकाशित होना आरंभ हुआ और 'हिंदी प्रदीप' के जिल्द ५, सं० ६, मई १८८२ तक प्रकाशित होता रहा। यह उपन्यास भी अपूर्ण प्रकाशित होकर रह गया।[१८]

एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती

संभवतः इसी दशक (१८७० – ७६) में भारतेंदु हरिश्चंद्र लिखित 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' नामक उपन्यास का केवल 'प्रथम खेल,' श्री ब्रजरत्नदास के अनुसार, एक पत्र में प्रकाशित हुआ था।[१९] इसके

१६. विजयशंकर मल्ल (सं०) भाग्यवती, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय १९६०, परिचय।

१७. प्राप्ति स्थान – आ० भा० पु०, काशी।

१८. रहस्यकथा उपन्यास, 'हिंदी प्रदीप' के निम्नलिखित अंकों में छपा था— जिल्द ३, सं० ३ से ६ (नवंबर १८७९ से फरवरी १८८०), सं० ९ – १० (मई – जून १८८०), सं० १२ (अगस्त १८८०), जिल्द ४, सं० ४ – ५ (दिसंबर १८८० – जनवरी १८८१), सं० ८ (अप्रैल १८८१), सं० १२ (अगस्त १८८१), जिल्द ५, सं० ९ (मई १८८२)।

१९. ब्रजरत्नदास, हिंदी उपन्यास साहित्य, हिंदी साहित्य कुटीर, बनारस, संवत् २०१३ वि०, पृ० १२३।

प्रकाशनकाल तथा जिस पत्र में यह प्रकाशित हुआ था, उसका पता नहीं लग सका। भारतेंदु इस उपन्यास को पूरा न कर सके थे।

अमृत चरित्र

जून १८८१ के 'हिंदी प्रदीप' में मुद्रित एक 'कृतज्ञता स्वीकार'[20] से ज्ञात होता है कि अगस्त १८८० ई० में दरभंगानरेश श्री लक्ष्मीश्वर सिंह ने एक घोषणा की थी कि 'हिंदी भाषा में सबसे उत्तम पदार्थ विद्या की पुस्तक बनाने वाले को २००), गद्यकाव्य उपन्यास (नोवेल) बनाने वाले को १५०) और पद्यकाव्य बनाने वाले को भी १५०) कोई देशोपकारी प्रबंध (ऐसे) बनाने वाले को १००) पारितोषिक मिलेंगे। यदि १ली फरवरी के पूर्व ही हमारे पास पहुँच जावे।' इस घोषणा के उत्तर में प्रयाग के श्री देवकीनंदन त्रिपाठी ने 'अमृत चरित्र' 'नामक एक नवीन उपन्यास लिखकर महाराजाधिराज की सेवा में प्रेषित किया था और उन्हें पुरस्कारस्वरूप एक सौ पचास रुपये प्राप्त हुए थे। उक्त 'कृतज्ञता स्वीकार' के अनुसार इस उपन्यास का भाव संस्कृत का निम्नलिखित श्लोक था—

येषां विद्या बुद्धिर्नच भारतस्य भीति भिन्नताये।
अमृतचरित्रे तेषांमृत सम बिदुषां चरित्रमस्ति॥

मै यह उपन्यास प्राप्त करने में असमर्थ रहा, पर उपर्युक्त 'कृतज्ञता स्वीकार' से रचनाकाल १८८० ई० का अंत अथवा १८८१ ई० का प्रारंभ ज्ञात होता है। यह उपन्यास अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है।

निस्सहाय हिंदू

सन् १८८१ ई० में राधाकृष्णदास ने भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र की आज्ञा से 'निस्सहाय हिंदू' की रचना की जो ६ वर्ष बाद सन् १८९० ई० में विक्टोरिया प्रेस, बनारस से प्रकाशित हुआ।[21]

हिंदी के आलोचकों ने इसका प्रकाशनकाल और रचनाकाल एक मानकर इसका विवेचन १८९० में लिखित पुस्तक के रूप में किया है, जो उचित नहीं है। प्रकाशन न होने मात्र से किसी पुस्तक की प्राचीनता नष्ट नहीं होती। यह

२०. हिंदी प्रदीप, जिल्द ४, सं० १०, जून १८८१, पृ० १२।
२१. प्रा० स्था० – प० क० पु०, पटना। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि – निःसहाय हिंदू एक वियोगांत उपन्यास स्वर्गीय भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र की आज्ञानुसार श्री राधाकृष्ण लिखित बनारस विक्टोरिया प्रेस सन् १८९० प्रथम बार १००० मूल्य।), पृ० सं० १२०।

पुस्तक १८८१ में लिखी गई थी, इसका प्रमाण व्यास रामशंकर शर्मा द्वारा लिखित तथा पुस्तक के अंत में संलग्न २७ नवंबर १८८१ का प्रशंसापत्र है— व्यास जी ने लिखा था 'मेरे परम प्रिय मित्रवर बाबू राधाकृष्णदास जी ने 'निःसहाय हिंदू' नामक एक नवीन उपन्यास लिखा है उन्होंने स्नेहवश मुझे उस उपन्यास को आद्योपांत देखने के लिये दिया······भगवान् इनको यह सुबुद्धि दे कि ये सदा सत्कर्म तथा हमलोगों के मान्यवर श्री भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र जी की भक्तिपूर्वक सेवा करते रहें जिसमें इनका असंख्य लाभ संभव है। इस प्रशंसापत्र के नीचे '२७/११/८१ मानमंदिर' मुद्रित है। भारतेंदु हरिश्चंद्र का उल्लेख भी इसमें एक जीवित व्यक्ति के रूप में किया गया है, जिसका अर्थ यह है कि जब यह प्रशंसापत्र लिखा गया था, उस समय भारतेंदु जी जीवित थे। पुस्तक के निवेदन में राधाकृष्णदास ने भी लिखा है कि 'यह ग्रंथ पूज्यपाद स्वर्गीय भाई साहब बाबू हरिश्चंद्र जी के आज्ञानुसार बना था किंतु कई कारणों से बिना छपा ही इतने दिनों तक पड़ा रहा······यह ग्रंथ जैसा लिखा गया था अक्षर अक्षर वैसा छपा है।'[२२] इन साक्ष्यों से यह सिद्ध है कि यह उपन्यास १८८१ ई० में रचा गया था और १८९० ई० में जैसा लिखा गया था, वैसा ही छपा। अतः इसे १८८१ ई० की रचना न मानने का कोई कारण नहीं है। निस्सहाय हिंदू का दूसरा संस्करण १९४० ई० में गंगा पुस्तकमाला कार्यालय लखनऊ से प्रकाशित हुआ।[२३]

परीक्षागुरु

सन् १८८२ ई० में लाला श्रीनिवासदास लिखित 'परीक्षागुरु', जिसे अधिकांश हिंदी आलोचक हिंदी का प्रथम उपन्यास मानते हैं, सदादर्श प्रेस दिल्ली से छपकर प्रकाशित हुआ।[२४] 'हिंदी प्रदीप' जिल्द ६, सं० ४ (दिसंबर १८८२) में

२२. वही, निवेदन (१ फरवरी १८९० ई०)।

२३. प्रा० स्था० – आ० भा० पु०, काशी।

२४. 'परीक्षागुरु' का प्रथम संस्करण श्री उदयशंकर शास्त्री (हिंदी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा) के पास है, जिसके मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि उन्होंने कृपापूर्वक मेरे पास भेज दी थी। यहाँ वही प्रतिलिपि ज्यों की त्यों दी जा रही है —

मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि – परीक्षागुरु अर्थात् अनुभव द्वारा उपदेश मिलने की एक संसारी वार्ता लाला श्रीनिवासदास प्रणीत 'ऐश्वर्यमद पापिष्ठा मदा मान मद्‌ादयः ॥ ऐश्वर्य मदमत्तो हि नापतित्वा विबुध्यते' भावार्थ 'और मदन से

'परीक्षागुरु' की आलोचना प्रकाशित हुई थी, जिससे ज्ञात होता है कि लाला श्रीनिवासदास ने प्रथम बार इसे स्वयं प्रकाशित कर 'सारसुधानिधि' पत्र के पाठकों में बिना मूल्य वितरित किया था।[२५] इससे भी परीक्षागुरु का दिसंबर १८८२ ई० से पूर्व प्रकाशित होना सिद्ध होता है।

बिभव मद अति पापिष्ठ लखाय। वह उतरैं अपने समय यह बिन बिपति न जाय। — विदुर प्रजागरे; दिल्ली सदादर्श प्रेस में छपी सं० १९३९ विक्रमी में पहली बार मूल्य १२ आने मात्र।

[इसका समर्पण (डेडिकेशन) लाला श्रीराम एम० ए० अलवर को अँगरेजी भाषा और रोमन अक्षरों में २५ नवंबर १८८२ में किया गया था। पृ० सं० १७४]

२५. हिंदी प्रदीप, जिल्द ६, सं० ४ (दिसंबर १८८२), पृ० ११ – १३ में प्रकाशित 'परीक्षागुरु' की आलोचना के कुछ महत्वपूर्ण अंश —

'प्रथम तो हमें हर्ष इस बात का है कि महाजनों में एक ऐसा चमत्कारी प्रतिभासंपन्न पुरुष हो निकला··· । इस उपन्यास की भाषा और 'प्लाट' बंदिश दोनों बहुत कुछ सराहने के योग्य हैं, ग्रंथकर्ता ने अँगरेजी फारसी संस्कृत और विज्ञान में अपनी लियाकत जहाँ तक हो सका भरपूर इसमें प्रगट किया है पर न जानिये क्यों हमें इस लेख में एक प्रकार को रूखापन जँचता है। पद्मों का वह लालित्य और माधुर्य नहीं आया जैसा बाबू हरिश्चंद्र के लेख में होता है नाटक वा उपन्यास के प्रधान अंग शृंगार हास्य कभी कभी वीर और करुण होते हैं सो उन सबों की इसमें कहीं झलक भी नहीं है क्या निरा बिदुर प्रजागर और ठौर-ठौर बेलून आदि वैज्ञानिक बातों ही के भर देने से समस्त लेख चातुरी समाप्त हो गई, नोवेल राइटिंग उपन्यास संबंधी लेख और विज्ञान तथा नीति से क्या सरोकार बहुत लोग नोवेल जैसा मिस्ट्रीज आदि किताबें हैं उनका पढ़ना बुरा समझते हैं और उपन्यासों के 'इम्मारल असत् उपदेशक कह कर बदनाम कर रक्खा है पर सच पूछो तो बुराइयों का परिणाम दिखाकर अपनी लेखशक्ति के द्वारा पढ़नेवालों का जी आकर्षण करते आना जैसा संस्कृत में कादंबरी में है अंत को एक अपूर्व उपदेश निकालना उपन्यास ही में है सो बातें इसमें नहीं पाई जातीं; अस्तु फिर जहाँ कोई पेड़ नहीं वहाँ रेंड ही रूख हिंदी में अब तक कोई उत्तम उपन्यास नहीं छपे इसलिए यह अवश्य उत्तमोत्तम है क्योंकि कवि की उक्ति है 'सतु तत्र विशेष दुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्मयः' दूसरी बात लाला श्रीनिवासदास की यह अति प्रशंसनीय है कि सा० सु० नि० के ग्राहकों में इसे मुफ्त बांटा

हिंदी के कतिपय शोधकर्ताओं ने 'परीक्षागुरु' के रचना और प्रकाशन काल के संबंध में मौलिक उद्भावनाएँ प्रस्तुत कर बहुत भ्रम पैदा कर दिया है। इधर हाल में डा० कैलाशप्रकाश कृत 'प्रेमचंद पूर्व हिंदी उपन्यास' शीर्षक शोधप्रबंध प्रकाशित हुआ है।[२६] इसमें 'परीक्षागुरु' की रचना और प्रकाशन तिथि के संबंध में निम्नलिखित विचार व्यक्त किए गए हैं—

'परीक्षागुरु की प्रकाशनतिथि सन् १८८२ मानी जाती है, द्वितीय मुद्रण से पूर्व लेखक का स्वर्गवास (सन् १८८७) हो चुका था, क्योंकि द्वितीय बार प्रकाशित प्रति में लेखक का नाम स्वर्गीय लाला श्रीनिवासदास लिखा है।...यह अनुमान युक्तिसंगत होगा कि 'परीक्षागुरु' का प्रकाशन सन् १८८२ में प्रारंभ होकर सन् १८८४ तक पूरा हुआ था।......इसी प्रकार 'परीक्षागुरु' सन् १८८२ में छप गया होगा, परंतु इसका पुस्तकाकार प्रकाशन सन् १८८४ में पूर्ण हुआ होगा।'[२७]

ऊपर दी गई सूचनाओं के प्रकाश में यह उद्धरण कितना अनर्गल है इसके संबंध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। पता नहीं 'परीक्षागुरु' का वह कौन सा दूसरा संस्करण है, जिसमें स्वर्गीय लाला श्रीनिवासदास लिखा हुआ है। परीक्षागुरु का दूसरा संस्करण लालाजी के जीवनकाल में ही, संवत् १९४१ (१८८४ ई०) में मुंबई, गणपत कृष्णाजी छापाखाना में मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ था, जिसकी एक प्रति आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी (ना० प्र० स०) में विद्यमान है।[२८]

जिसे कितने लोगों को उपन्यास पढ़ने का शौक हो जायगा और देखादेखी कदाचित् और लोग भी नोवेल लिखने का मन करें तो क्या अचरज है अंत को श्रीनिवासदास को अनेक धन्यवादपूर्वक हम इस ग्रंथ को स्वीकार करते हैं।'

२६. डा० कैलाशप्रकाश, प्रेमचंद पूर्व हिंदी उपन्यास, हिंदी साहित्य संसार, दिल्ली-पटना, १९६२ ई०।

२७. वही, पृ० ६०।

२८. मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि – परीक्षा गुरुः अर्थात् अनुभव द्वारा उपदेश मिलने की एक संसारी वार्ता, लाला श्रीनिवासदास प्रणीत 'ऐश्वर्यमद पापिष्ठा मदाः पान मदादयः। ऐश्वर्य मदमत्तो हि नापयित्वा विबुध्यते' भावार्थ — 'और मदन ते विभव मद अति पापिष्ट लखात। वह उतरें अपने समय यह बिन विपति न जाय।' विदुर प्रजागरे; मुंबई गणपत कृष्णाजी के छापखाने के

इसी प्रकार का एक भ्रम डा० राजेंद्र शर्मा ने अपने शोधप्रबंध 'हिंदी गद्य के निर्माता पं० बालकृष्ण भट्ट' में उत्पन्न किया है। उन्होंने उक्त पुस्तक के पृष्ठ ७५ पर परीक्षागुरु की बालकृष्ण भट्ट कृत एक आलोचना उद्धृत की है और पादटिप्पणी में इस उद्धरण को हिंदी प्रदीप जनवरी १८८२, पृ० १८ से लिया गया बताया है।[२१] उद्धृत आलोचना को पढ़ने से जान पड़ता है कि 'परीक्षागुरु' के प्रकाशित होने पर भट्ट जी ने उसकी आलोचना की थी जिससे 'सार सुधानिधि' के संपादक को कुछ बुरा लगा था और उन्होंने उसके जवाब में कुछ लिखा था। भट्ट जी ने उसका प्रत्युत्तर डा० राजेंद्रप्रसाद शर्मा द्वारा उद्धृत आलोचना में दिया था। पर ऐसा होने पर 'परीक्षागुरु' का प्रकाशनकाल १८८१ में चला जायगा, जो किसी भी हालत में सही नहीं हो सकता। वास्तव में डा० शर्मा की सूचना ही गलत है। 'हिंदी प्रदीप', जनवरी १८८२ के पृ० १८ की बात तो दूर, उस अंक की एक एक पंक्ति देखने पर भी कहीं वह आलोचना नहीं मिली। यह हिंदी का दुर्भाग्य ही है कि शोधप्रबंध में भी ऐसी सूचनाएँ दी जाती हैं जिनके कारण परवर्ती शोधकर्ताओं को भ्रांत होकर अपनी शक्ति और समय का अपव्यय करना पड़ता है।

मालिक आत्माराम कान्होबाजे छपी सं० १९४१ विक्रमी। दूसरी बार मूल्य १२ आने मात्र।

२१. डा० राजेंद्रप्रसाद शर्मा द्वारा हिंदी गद्य के निर्माता पं० बालकृष्ण भट्ट उद्धृत आलोचना निम्नलिखित है —

'हमलोग जैसा और और बातों में अंग्रेजों की नकल करते आते हैं। वैसा वैसा ही उपन्यास का लिखना भी उन्हीं के दृष्टांत पर सीख रहे हैं। हाल में लाला श्रीनिवासदास जी का 'परीक्षागुरु' नामक ग्रंथ जिसे हम उपन्यास ही गिनते हैं और जिसकी समालोचना से हमारे प्रिय शुभचिंतक सा० सु० नि० के सुयोग्य संपादक महाशय हमसे कुछ अनमने से हो गये हैं अलबत्ता कुछ कुछ अँग्रेजी नोविल के ढंग पर है परंतु नोविल प्रौढ़ बुद्धिवालों के लिये लिखे जाते हैं कि निरे स्कूलों में 'क' 'ख' सीखने वालों के लिये। ग्रंथकर्ता महाशय को अनेक प्रकार के उपदेश वाक्य और विज्ञान चातुरी प्रकट करना था तो गुलदस्ते यखलाक या विद्यांकुर के ढंग की कोई पुस्तक बनाते यदि वे सब ठौर - ठौर के अनुवाद निकाल दिए जायँ तो (ओरिजिनल पोर्शन) असली हिस्सा उस पुस्तक का कुछ रही न जाएगा।'

'परीक्षागुरु' का तीसरा संस्करण १९१८ ई० में मारवाड़ी ट्रेड्स एसोसिएशन, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ।[30]

गुप्त बैरी

सन् १८८२ में ही बालकृष्ण भट्ट लिखित 'गुप्त बैरी' नामक उपन्यास के थोड़े से अंश 'हिंदी प्रदीप' (जिल्द ५, सं० ६, १० और १२ — मई, जून और अगस्त १८८२ ई०) में प्रकाशित हुए। यह उपन्यास पूरा नहीं छप सका। पुरानी कहानियों की तरह इसमें एक राजकुमार के विपत्तिग्रस्त होने, उसी विपत्ति की अवस्था में एक राजकुमारी से प्रेम होने और अनेक कठिनाइयों के बाद उसके द्वारा अपनी प्रेमिका को प्राप्त करने का वर्णन है।

नूतन चरित्र

सन् १८८३ ई० में 'हिंदी प्रदीप' के सात अंकों में रत्नचंद्र प्लीडर लिखित 'नूतन चरित्र' के कतिपय परिच्छेद प्रकाशित हुए।[31] इससे भी पहले उक्त उपन्यास के कुछ अंश 'चित्रकला और विवेकराम का नूतन चरित्र' शीर्षक से 'नाटक प्रकाश' नामक पत्र में जो मुंशी इमदाद अली के प्रबंध से ज्ञानरत्नाकर यंत्रालय में छपता था, प्रकाशित हो चुके थे।[32] पर जान पड़ता है, २२ अप्रैल १८८७ के पूर्व रत्नचंद्र जी अपने उपन्यास को अंतिम रूप नहीं दे सके, क्योंकि

३०. पटना कालेज पुस्तकालय, पटना। (भूल से मुखपृष्ठ पर इसे दूसरा संस्करण कहा गया है)।

३१. हिंदी प्रदीप, जिल्द–६, सं० ७–१२ (मार्च-अगस्त १८८३ तथा जिल्द ६ सं० २ (अक्टूबर १८८३), प्रा० स्था –चैतन्य पुस्तकालय, पटना।

३२. वही, जि० ४, सं० ३, नवंबर १८८० में प्रकाशित सूचना नाटक प्रकाश— नंबर १ से ६ तक इसमें शेक्सपियर के नाटक तथा नावेलों की छाया लेकर अपूर्व रचना संकलित नाटक और उपन्यास छापे जाते हैं अब तक इसमें भ्रमजालक और प्रपंच नाटक ये दो रूपक और चित्र-कला और विवेक राम का नूतन चरित्र नामक उपन्यास के थोड़े थोड़े भाग छपे हैं यह सब बाबू रतनचंद वकील हाईकोर्ट की रचनाएँ हैं और यहाँ ज्ञानरत्नाकर यंत्रालय में मुनशी इमदाद अली के प्रबंध से छपता है हमारे ग्राहकों में से बहुत से लोग नये नाटकों के लिये बहुधा हमें लिख चुके हैं उनके लिये यह पुस्तक बहुत उपयोगी होगी। मूल्य फी नं० – २)।

सन् १८६३ ई० में इंडियन प्रेस से प्रकाशित 'नूतन चरित्र' के अंत में इस उपन्यास का रचनाकाल निम्नलिखित दोहे के रूप में दिया गया है।[33]

सात आठ अरु आठ इक सन् ईसाई जान।
बाइस अप्रैल के दिवस पूरण पुस्तक मान॥

इस दोहे से ज्ञात होता है कि नूतन चरित्र २२ अप्रैल १८८७ ई० को पूरा हुआ था। यह उपन्यास पुस्तक रूप में १८६३ ई० में इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ। आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी के द्विवेदी संग्रह में इस उपन्यास की एक प्रति उपलब्ध है।[34] 'नूतन चरित्र' का दूसरा संस्करण १६१३ ई० में इंडियन प्रेस, प्रयाग से ही प्रकाशित हुआ।[35]

दिसंबर सन् १८८४ ई० में पं० बालकृष्ण भट्ट द्वारा लिखित उचित दक्षिणा नामक उपन्यास हिंदी प्रदीप, जिल्द ८, सं० ४, दिसंबर १८८४ में प्रकाशित होना शुरू हुआ, पर यह एक अंक से आगे फिर नहीं निकला।

स्त्री उपदेश

सन् १८८५ ई० में पं० माधवप्रसाद ने 'स्त्री उपदेश' नामक एक स्त्रीशिक्षाविषयक कथा की रचना की जो १८८६ ई० में लखनऊ से प्रकाशित हुई।[36] भूमिका में पुस्तक का रचनाकाल दिया हुआ है। इस पुस्तक का

३३. नूतन चरित्र ले० बाबू रत्नचंद्र, इंडियन प्रेस सन् १८६३, अंतिम पृष्ठ।

३४. मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि – नूतनचरित्र प्रथम खंड जिसको अंगरेजी नोविल्स की रीति पर बाबू रत्नचंद्र बी० ए० वकील हाईकोर्ट इलाहाबाद ने बनाया और जिस्में धर्म्मयुक्त सांसारिक व्यवहार विषयक शिक्षा एक अति मनोहर स्वभाव शोधक कहानी के द्वारा बाल, वृद्ध, युवा, स्त्री और पुरुषों को प्राप्ति होती है। प्रयागनगर में 'इंडियन प्रेस' के द्वारा प्रकाशित किया सन् १८१३।

३५. प्रा० स्था – आ० भा० पु०, काशी।

३६. प्रा० स्था० – आ० भा० पु० काशी। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि – स्त्री उपदेश जिसमें अत्यंत नाट्य नाटक भाव से रोचक शब्दों में व चातुर्य्यनटकीली वार्त्ताओं की शिक्षा व पाठशाला विषयक उपदेश व यथातथ्य बुद्धिमानी से हास विलास के प्रश्न व उत्तर से आनंदीय चुटकुलों में वर्णित है जिसको श्री पं० माधवप्रसाद ऐक्स्ट्रा असिस्टेंट कमिश्नर जिला बांदा के बड़ी उक्ति व युक्ति की रचना से अति चमत्कारयुक्त व बहुत उत्तम पद पदार्थों में निर्मित किया है। पहिली बार स्थान लखनऊ मई सन् १८८६ ई०।

छठा संस्करण[39] रूपनारायण पांडेय द्वारा संपादित होकर १६२८ ई० में नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित हुआ।[38]

श्यामास्वप्न

सन् १८८५ ई० में ही ठाकुर जगन्मोहन सिंह ने 'श्यामास्वप्न' नामक 'गद्यप्रधान कथा' की रचना की।[39] यह सन् १८८८ ई० में ऐजूकेशन सोसाइटी प्रेस बाइकुला से मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ।[40] इस पुस्तक में स्वप्न के रूप में एक प्रेमकहानी का वर्णन किया गया है।

नूतन ब्रह्मचारी

सन् १८८६ ई० में 'हिंदी प्रदीप' जिल्द ६, सं० ६ (फरवरी १८८६) से पं० बालकृष्ण भट्ट लिखित नूतन ब्रह्मचारी नामक कथापुस्तक का प्रकाशन आरंभ हुआ और संख्या ८ (अप्रैल १८८६ ई०) तक के तीन अंकों में यह लगातार प्रकाशित होती रही।[41] इसके बाद हिंदी प्रदीप में इसका छपना बंद हो गया।

१७. वही, भूमिका।

१८. मा० पु० पटना।

१९. पुस्तक के अंत में निम्नलिखित पंक्तियों में रचनाकाल दिया हुआ है—

पूस बदी गुरुवार तीज दिन शिशिर रामपुर माहीं।
नैन वेद ग्रहचंद वर्ष यह संवत्सर हरषाहीं॥

पुस्तक के समर्पण के अंत में भी २५ दिसंबर १८८१ तिथि मुद्रित है।

४०. मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—

श्री श्यामा पातु श्यामा स्वप्न अर्थात् गद्य प्रधान चार खंडों में एक अल्पना ऋतु संहार मेघदूत कुमारसंभव देवयानी श्यामालता प्रेम संपत्तिलता सज्ज नाटक इत्यादि काव्यों के अनुवादक और प्रणेता विजय राघव गढ़ाधिपात्मज श्री ठाकुर जगन्मोहन सिंह एम० आर० ए० एस० ग्रेटब्रिटेन और आयरलैंड विरचित। (रोमन अक्षरों में) श्यामा स्वप्न ऐन ओरिजिनल नावेल इन हिंदी प्रोज बाइ ठाकुर जगन्मोहन सिंह एम० आर० ए० एस० आव ग्रेट ब्रिटेन ऐंड आयरलैंड सन आव दि लेट चीफ आव विजयराघोगढ़, सेंट्रल प्राविंसेज बंबे, प्रिंटेड ऐट दि एजूकेशन सोसाइटीज प्रेस बाइकुला १८८८ प्राइज पर कापी वन रुपी मूल्य १)।

४१. हिंदी प्रदीप, जिल्द ६, सं० ६, ७ और ८ (फरवरी-अप्रैल १८८६), प्रा० स्था० चैतन्य पुस्तकालय, पटना।

पर इसी वर्ष भट्ट जी ने इसे पुस्तकाकार प्रकाशित किया और 'हिंदी प्रदीप' के ग्राहकों में उपहारस्वरूप वितरित किया। इस पुस्तक के 'निवेदन' से ज्ञात होता है कि यह पाठकों में लोकप्रिय न हो सकी थी।[४२] 'सरस्वती' के दिसंबर १६११ के अंक में प्रकाशित 'नूतन ब्रह्मचारी' की समालोचना से ज्ञात होता है कि इसके निकट अतीत में इस पुस्तक का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ था।[४३] नागरी हितैषिणी पत्रिका वर्ष ७, अंक ६–१० (दिसंबर १६१२ जनवरी १६१३) में प्रकाशित 'नूतन ब्रह्मचारी' की ब्रसमालोचना से ज्ञात होता है कि यह संस्करण पं० महादेव भट्ट द्वारा अभ्युदय प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक 'नूतन ब्रह्मचारी' के प्रथम दोनों संस्करणों में से एक को भी प्राप्त करने में असमर्थ रहा है। सन् १६४१ ई० में हिंदी प्रदीप कार्यालय, सुड़िया, काशी से इस पुस्तक का तीसरा संस्करण प्रकाशित हुआ जिसकी एक प्रति आर्यभाषा पुस्तकालय काशी में उपलब्ध है।[४४]

सन् १८८० ई० में किशोरीलाल गोस्वामी का प्रथम उपन्यास प्रणयिनी परिणय रचा गया, जो १८६० में भारतजीवन प्रेस से प्रकाशित हुआ।[४५]

४२. 'यह उपन्यास सन् १८८६ की हिंदी प्रदीप को कुछ जिल्दों के कुछ अंकों में ४ या ५ अध्याय निकलकर पुस्तकाकार छपकर उस समय के ग्राहकों को उपहार में बाँट दिया गया था। जो बचा था उसके खरीदार कोई भी न हुए बिना मूल्य लेने को सब ही हिंदीरसिक बन गए।'— नूतन ब्रह्मचारी ले० पं० बालकृष्ण भट्ट प्र० हिंदी प्रदीप कार्यालय, सूड़िया काशी, सन् १६४१, तृतीय संस्करण, निवेदन।

४३. सरस्वती, भाग १२, अंक १२, दिसंबर १६११ ई० 'नूतन ब्रह्मचारी' की समालोचना।

४४. मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—

नूतन ब्रह्मचारी उपन्यास एक 'सहृदय' के हृदय का विकास हिंदी के सुप्रसिद्ध लेखक स्वर्गीय पंडित बालकृष्ण भट्ट रचित।

भीमं मनं तस्य पुरप्रधानम्।
सर्वे जनाः सुजनतामुपयान्ति तस्य॥
कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधि रत्नपूर्णं।
यस्यास्ति शुभ्र चरितं विपुलं नरस्य॥

प्रकाशक—हिंदी प्रदीप कार्यालय, सूड़िया काशी, सन् १६४१ तृतीय संस्करण १५००।

४५. प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक इसके प्रथम संस्करण को प्राप्त करने में असमर्थ रहा है। प्रथम संस्करण के लेखक और प्रकाशक संबंधी सूचनाएँ इसके द्वितीय संस्करण की भूमिका से प्राप्त की गई हैं।

सन् १८८८ ई० में गोस्वामी जी ने 'त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी' नामक उपन्यास की रचना की जो १८६० ई० के विहारबंधु नामक पत्र में प्रकाशित हुआ।

सन् १८८८ ई० में ही देवीप्रसाद शर्मा लिखित 'विधवा विपत्ति' नामक उपन्यास रसिक काशी यंत्रालय दिल्ली से मुद्रित हुआ, जिसकी एक प्रति आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी में है।[४६]

सन् १८८६ ई० में गोस्वामी जी ने 'स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी' नामक उपन्यास की रचना की जो पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ।[४७]

सन् १८८६ में ही 'हिंदी प्रदीप' जिल्द १२ की छठी से लेकर बारहवीं संख्याओं तक में (फरवरी अगस्त १८८६) पं० बालकृष्ण भट्ट लिखित 'सद्भाव का अभाव' नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ।[४८] भट्ट जी इस उपन्यास को भी पूरा न कर सके।

इसी वर्ष 'हिंदी प्रदीप', जिल्द १२, सं० ८ (अप्रैल १८८६ ई०) में ढाई पृष्ठों में 'परस्पर ठग उपन्यास' शीर्षक एक अधूरी कथा छपी जिसमें नयन मूँदन नामक ग्वाले और सरब लूटन नामक सुनार की ठगवृत्ति का वर्णन किया गया है।[४९]

इस प्रकार सन् १८०० – १८६० की अवधि में हिंदी में सोलह पूर्ण और सात अपूर्ण गद्यकथाएँ लिखी और प्रकाशित की गईं। समस्या यह है कि इनमें से किसे हिंदी का प्रथम उपन्यास माना जाय?

*

४६. मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि —

विधवा विपत्ति (उपन्यास) जिसको अपने परम मित्र राधाचरण गोस्वामी वृंदावन निवासी की सहायता से देवीप्रसाद शर्मा लेखाध्यक्ष कार्यालय हरिद्वार गौरक्षिणी सभा मुकाम कानपुर ने, बाबू रामचंद्र के प्रबंध से देहली रसिक काशी यंत्रालय में छपवाई। संवत् १९४५ विक्रमीय प्रथम संस्कार ५०० प्रति मूल्य प्रति पुस्तक –)। पृ० सं० १७।

४७. 'किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों का प्रकाशन तिथि क्रम' निबंध, परिषद् पत्रिका वर्ष १, अंक ४।

४८. प्रा० स्था० चैतन्य पुस्तकालय, पटना।

४९. वही।

चयन

दिव्यावदान का चारिक शब्द

वासुदेवशरण अग्रवाल

•

जर्नल आव् द ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, खंड १२ अंक ४ (जून १९६३) में प्रकाशित 'ए नोट आन द वर्ड चारिक इन दिव्यावदान' शीर्षक अँगरेजी निबंध का सार—

अर्थगवेषणा की दृष्टि से चारिक शब्द यहाँ नवीन है। दिव्यावदान, पूर्णावदान (कावेल संस्करण पृ० ४५) में एक स्थल पर यह शब्द आया है – यावत् पत्रचारिका ऋद्धया हरितचारिका भाजनचारिकाश्चागताः।······महाराज पत्रचारिका हरितचारिका भाजनचारिकाश्चैते······।

पत्रचारिका, हरितचारिका एवं भाजनचारिका शब्दों की प्रसंगानुकूल तथा संतोषजनक व्याख्या अद्यावधि नहीं हुई है। एजर्टन ने चारिक का सामान्य अर्थ 'मूविंग' किया है। परंतु इसका वास्तविक महत्व उनसे छूट गया।

इन्हें समझने के लिये भारतीय वैवाहिक तथा धार्मिक शोभायात्राओं को स्मरण करना चाहिए। दिव्यावदान में 'चारिक' का वास्तविक तात्पर्य शुभ चिह्नों को लेकर चलनेवाले उन व्यक्तियों से है जो शोभायात्रा के अंग होते थे; अथवा शुभ पशुओं की पीठ या विमानों पर बैठे होते थे। ये सभी आगे आगे निर्धारित क्रम में चलते थे। उनके पीछे मुख्य समुदाय चलता था। यहाँ राजा शूर्पारक पूर्ण से पूछता है कि पत्रचारिकों, हरितचारिकों तथा भाजनचारिकों के आ जाने के उपरांत क्या बुद्ध भी आ गए हैं। पूर्ण ने कहा 'नहीं'। तब स्थविरस्थविरा पंक्तिबद्ध पहुँचे और राजा ने पुनः वही प्रश्न किया। पूर्ण ने पुनः कहा, 'नहीं'।

इसके बाद एक गाथा उल्लिखित है जिसमें १२ शुभ चिह्न गिनाए हैं जो एक के बाद क्रमशः चलते थे और जो जनता के समक्ष स्वर्गीय जीवन के चमत्कारी दृश्य (ऋद्धि) प्रदर्शित करते थे। इनमें दिव्य झाँकियों की अवतारणा होती थी। कहा गया है कि कुछ धरती से उगते, कुछ आकाश से उतरते तथा कुछ वाहनों पर बैठे दिखते थे। गाथा के उल्लेख के अनुसार सिंह, चीता, हाथी, घोड़े, नाग, वृषभ आदि के रूप में ये शुभ वस्तुएँ गिनाई गई हैं। प्रतीत होता है कि ये जंतु सजी हुई मूर्तियों के रूप में या जीवित अवस्था में ले जाए जाते थे। ये अशोक के अभिलेखों के 'हथिदसना' और 'विमानदसना' का स्मरण दिलाते हैं।

आज भी विवाह, बारात या दशहरा और अन्य त्योहारों के अवसर पर मूल्यवान साजसज्जा तथा रंग विरंगी चित्रकारी से शोभायात्राएँ निकाली जाती हैं। अवश्य ही यह सब आयोजक के वित्त के अनुसार होता है।

धनवानों की कतिपय शोभायात्राओं में पुष्पित वृक्ष, फलयुक्त डालियाँ, शुभ पत्तियाँ आदि लेकर स्त्रियों तथा पुरुषों को चलते हमने देखा है। परंतु अधिकांशतः ये कागज और मिट्टी की होती हैं जिन्हें 'बागबारी' या फुलवारी कहते हैं यही यहाँ पत्रचारिक तथा हरितचारिक हैं।

पूर्णघट में पत्तियाँ, कमल तथा पुष्प खोंसकर या यवांकुर उगे हुए पात्र लेकर चलनेवाले भाजनचारिक होते थे। आज भी दशहरे पर बुंदेलखंड में हरे पीले यवाकुर उगे पात्र लेकर नारीसमूह निकलता है। बाण ने हर्षचरित में राज्यश्री की विवाहवेदी की शोभा बढ़ानेवाले ऐसे शुभ कलशों का वर्णन किया है।

ललितविस्तर में महारानी माया की उद्यानयात्रा के प्रसंग में ऐसे शुभ चिह्नों को धारण करनेवाली कन्याओं का वर्णन है; यथा पूर्णकुंभकन्या, मयूरहस्तकन्या, तालवृंतककन्या, गंधोदकभृंगारकन्या, विचित्रपटोलककन्या, विचित्रप्रलंबनमालाकन्या, रत्नभद्रालंकारकन्या तथा भद्रासनकन्या। ऐसे यात्राव्यूहो के अनेक प्रदर्शन मथुरा के स्तंभों पर हैं।

इन शोभायात्राओं में रत्न या भद्रमणि, विमान, मेरु आदि पर्वत, कल्पवृक्ष, शुभ्र उज्ज्वल रथ आदि ले जाए जाते थे। आजकल इन्हें तखत या चौकी कहते हैं। अशोक के अभिलेखों में इनके लिये विमान शब्द आया है।

दिव्यावदान के एक श्लोक की तीसरी पंक्ति—अन्ये तोयधरा इवाम्बरतले विद्युल्लतालंकृता—में यह महत्वपूर्ण संकेत है कि कतिपय अन्य व्यक्ति आकाश में बिजली की कौंध से युक्त बादलों की भाँति लग रहे थे। यह संकेत ऐसे मनुष्यों के लिये है जिन्हें आजकल बाँका (ए० व०) बाँके (ब० व०) कहते हैं जो दर्शकों को आकृष्ट करने के हेतु रंग विरंगे वस्त्र धारण करते हैं। ये तीन प्रकार से दिखाए जाते हैं—भूमि से उठते हुए, आकाश से उतरते हुए तथा कंधों पर वहन किए गए आसनों पर आसीन।

*

प्राचीन भारत में बेगार प्रथा

राधाकृष्ण चौधरी

द इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, खंड २८ संख्या १, मार्च, १९६२ में प्रकाशित 'विष्टि (फोर्स्ड लेबर) इन एंश्यंट इंडिया' शीर्षक अँगरेजी निबंध का सार—

प्राचीन साहित्य, शिलालेखों तथा अन्य पुरातात्विक सामग्री से यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में 'विष्टि' अथवा बेगार की प्रथा काफी प्रचलित थी। आज भी देश के कतिपय अंचलों में यह किसी न किसी रूप में विद्यमान है। अमरकोश तथा अन्य कोशों में भी विष्टि तथा उसका पर्याय 'आजू' शब्द आया है। इसकी पुष्टि चीनीयात्रियों (५ वीं शती) से भी होती है। प्राचीनतर नेपाली अभिलेखों में 'भोट विष्टि' शब्द मिलता है।

राज्य तथा राजा को समय समय पर आवश्यकतानुसार निःशुल्क सेवा ग्रहण करने का अधिकार था। यद्यपि पालिसाहित्य में 'विष्टि' शब्द नहीं मिलता, 'पण्णाकर' अर्थात् ऐच्छिक दान अर्थक शब्द वहाँ है। जातकों के काल में ऐच्छिक दान की प्रथा विद्यमान थी। यह भी एक प्रकार से 'विष्टि' का द्योतक प्रतीत होता है। अर्थशास्त्र में 'विष्टि' के विभिन्न प्रकारों का विशद वर्णन है। इस श्रेणी में आनेवालों की एक लंबी सूची कौटिल्य ने खींची है। कौटिल्य कालीन राज्य में किले, बाँध आदि जैसे निर्माणों का विशेष महत्व था। इनका निर्माण ग्रामीणों के निःशुल्क श्रम से होता था जिनके बदले में उन्हें सुरक्षा तथा जलपूर्ति की सुविधाएँ मिलती थीं। धनी लोग ऐसे अवसरों पर अपने दासों को भेजते थे जिनसे राय लेने का दायित्व राजकर्मचारियों का होता था। दास और कर्मकार से बलपूर्वक काम लिया जाता था। अर्थशास्त्र के 'आढक' शब्द की व्याख्या पर मतैक्य नहीं है। शाम शास्त्री के मतानुसार यह वस्तुरूप में दी जानेवाली मजदूरी है—एक आढक=६० पण के बराबर वेतन। कोशांबी के अनुसार ६० पण विष्टि का न्यूनतम वेतन है। मौर्यकाल में विष्टि राज्य तथा सेना का महत्वपूर्ण आयसाधन था। कौटिल्य ने 'विष्टि बंधक' नामक अधिकारी का उल्लेख किया है जिसका अर्थ है—निःशुल्क श्रम का गृहीता। आगे राज्य जब छोटे छोटे टुकड़ों में विभाजित हुए तब समाज का रूप बदलने के साथ बेगार ने भी बलपूर्वक गृहीत श्रम का रूप ले लिया। मध्यकालीन भारतीय शासकों की द्रुत पराजय तथा विजेताओं की सफलताओं में जनता की कोई अभिरुचि नहीं रह गई। मध्यकालीन सामंतवादी विकास के अंतर्गत यह प्रथा और भी स्पष्ट तथा प्रमुख हो गई।

नि र्दे श

हिंदी

संमेलन पत्रिका, भाग ४६, संख्या – २, शक १८८५।

गुरु नानक की भाषा – डा० जयराम मिश्र।

महाराष्ट्र के 'दशावतार' नाटक का गद्य – डा० श्याम परमार।

शाह मीरां जी शम्सुल्लुशाक : दक्खिनी हिंदी के सूफी संत कवि और उनका 'खुशनुमा' – श्री दशरथराज।

अँगरेजी

जर्नल आव् द ओरियंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, खंड १२, संख्या ४ जून १९६३।

आर्कियोलाजिकल हिस्टरी आव् मेवाड़ – १ (फ्राम थर्ड सेंचुरी टु ३०० बी० सी०)।

[३ शती ई० पू० से प्रायः ३०० ई० तक के मेवाड़ का पुरातात्विक इतिहास] अद्रीश बनर्जी।

गोविंद गुप्त आव् वैशाली सील ऐंड मांदसोर इंस्क्रिप्शन (ए गुप्त ऐंपरर विटवीन जी० ई० ९३ ऐंड ९६) [वैशाली मुद्रा तथा मांदसोर अभिलेख का गोविंद गुप्त (गुप्त संवत् ९३ तथा ९६ के बीच एक गुप्त सम्राट्)] – राधाकृष्ण चौधरी।

सर्वे ऐंड कार्टोग्राफी इन एंश्यंट इंडिया [प्राचीन भारत में भूमि की नापजोख तथा मानचित्रण] – मायाप्रसाद त्रिपाठी।

बुलेटिन आव् द दकन कालेज रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, खंड २१, १९६३।

द ओरिजिन आव् सप्तमातृकाज [सप्तमातृकाओं का उद्भव] – एम० के० धवलीकर।

क्वायंस आव् ब्रह्मपुरी एक्सकैवेशंस (१९४५ – ४६) [ब्रह्मपुरी खोदाई में प्राप्त सिक्के] – परमेश्वरीलाल गुप्त।

जर्नल आव् द युनिवर्सिटी आव् बांबे, खंड ३१, भाग २, सितंबर १९६२ (आर्ट्स नंबर)।

ए रीवैलुएशन आव् द चार्जेज अगेंस्ट द एट्थ कैंटो आव् कुमारसंभवम्

[कुमारसभव के अष्टम सर्ग पर आरोपित आक्षेपों का पुनर्मूल्यांकन] – रमेशचन्द्र एस० बेतइ ।

सम मैथेमैटिकल अचीवमेंट्स आव् एश्यट इडिया [प्राचीन भारत की कुछ गणितीय उपलब्धियाँ] – एच० एस० उर्सेकर ।

द अनल्स आव् द भडारकर ओरिएटल रिसर्च इस्टीट्यूट, खड ४३, पार्ट्स १ – ४, १६६३ ।

द जैन रेकर्ड्स एबाउट बर्ड्स [पक्षियों से सबधित जैन विवरण] – एच० आर० कापडिया ।

सस्कृत सुभाषित सग्रह इन ओल्ड जावानीज़ ऐंड टिबेटन [प्राचीन जावानी तथा तिब्बती में सस्कृत सुभाषित सग्रह] – लड्विक् स्टर्नबारव् ।

द इडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली खड ३८, सख्या १ मार्च १६६२ ।

द इस्टैब्लिशमट आव् द इस्टन चालुक्य डाइनैस्टी आव् वेंगी [वेंगी के पूर्वीय चालुक्य वश की स्थापना] – एन० एन० दास गुप्त ।

डोमेस्टिक लाइफ इन द सिक्सटींथ सेंचुरी ऐज रेफ्लेक्टेड इन द लिटरेचर आव् सूरदास [सूरसाहित्य में वर्णित १६ वीं शती का घरेलू जीवन] – एस० पी० सगर ।

इरिगेशन टैक्स इन एश्यट इडिया [प्राचीन भारत में सिंचाई कर] – लल्लन जी गोपाल ।

डेट आव् बरदराज [बरदराज का काल] – डा० वी० बरदाचारी ।

*

स मी क्षा

विद्यापति और उनकी पदावली

प्रस्तुत संकलन में विद्यापति के कुल २६७ पद संगृहीत हैं। पदों की यह संख्या और उनका क्रम प्रायः वही है जो श्री रामवृक्ष बेनीपुरी की 'विद्यापति पदावली' में है। विद्यापति ने जितने पदो की रचना की थी उन सभी का संकलन अभी तक नहीं किया जा सका है। इसीलिये उनकी पदावली के भिन्न भिन्न संकलनों में पदों की संख्या भी भिन्न भिन्न रही है, जैसे श्री नगेंद्रनाथ गुप्त ने जो संकलन प्रकाशित कराया था उसमें पदों की संख्या प्रायः साढ़े नौ सौ थी। ब्रजनंदन-सहाय जी का संकलन यद्यपि उक्त संकलन का आधा ही था तो भी उसमें कुछ ऐसे नए पद थे जो गुप्त जी वाले संस्करण में नहीं थे। ग्रिएर्सन ने भी विद्यापति के पदों का एक छोटा सा संकलन प्रकाशित कराया था जो मौखिक मैथिलपरंपरा पर आधृत था। परंतु इन सभी संस्करणों में भाषा का रूप शुद्ध नहीं था। इस दृष्टि से भी शिवनंदन ठाकुर का संकलन सर्वोत्तम था। उसका नाम ही था 'विशुद्ध विद्यापति पदावली' परंतु उसमें भी एकाध पद ऐसे थे जो विद्यापति के नहीं थे अर्थात् शिवनंदन ठाकुर ने जिस प्रति को आधार बनाया था उसमें भी न जाने कितने कवियों की रचनाओं का मिश्रण है।

हृदय के द्रवीभूत भाव अपनी अभिव्यक्ति के लिये संगीत की तरलता को ही माध्यम बनाया करते हैं। जो हृदय जितना ही भावुक होता है उतना ही वह संगीत की ओर झुकता है। विद्यापति ने बड़ा ही भावुक और रसमय हृदय पाया था फलतः उन्होंने पदावली की रचना केवल भावोद्रेक के कारण ही की। कोई विषयविभाग उनकी दृष्टि में न था। विशुद्ध अलौकिक नायक नायिका राधा-कृष्ण जयदेव के हाथो में पड़कर दिव्यादिव्य नायक नायिका बन चुके थे। अर्थात् गीतगोविंद में राधाकृष्ण के मान, मिलन, वियोग आदि का वर्णन तो अदिव्य मानवभूमि पर किया गया परंतु प्रत्येक पद की भणिता में यह अवश्य ही याद दिला दिया गया कि राधाकृष्ण दिव्य हैं और उनके चरित का गान करने से पुण्य और मोक्ष की प्राप्ति होती है। विद्यापति को राधाकृष्ण के दिव्यरूप से कोई प्रयोजन न था। उन्होंने उन्हें लौकिक नायक नायिका के प्रतीक रूप में ही ग्रहण किया था। यही कारण है कि उनके प्रत्येक पद में राधाकृष्ण का उल्लेख नहीं है। यह तो टीकाकारों की जबर्दस्ती ही कही जायगी जो वे बलपूर्वक प्रत्येक पद पर राधाकृष्ण का आरोपण किए बिना संतुष्ट ही नहीं होते। इस संदर्भ में संभवतः एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा।

प्रस्तुत पुस्तक के पृष्ठ ५४८ पर निम्नलिखित पद उद्धृत है :

काल्हि कहल पिया ए साँझहि रे
आएब मोयं मारुअ देस।
मोय अभागलि नहि जानलि रे
जइतओं संग जोगिन बेस ॥......

जब बंगाली वैष्णवों ने विद्यापति के पदों को अपने कीर्तन की सामग्री के रूप में ग्रहण कर लिया तो उनके लिये यह आवश्यक हो उठा कि वे प्रत्येक पद का संबंध राधाकृष्ण से ही जोड़ें। संभवतः उसी समय 'मारू' देश का अर्थ मथुरा लगा लिया गया। वैसे उक्त पद में न कहीं राधा का नाम है न कहीं कृष्ण का। फिर भी 'मारुअ' का अर्थ मथुरा कर दिया गया। श्री बेनीपुरी ने यही अर्थ स्वीकार कर अपने संकलन की पादटिप्पनी में 'मारुअ' का अर्थ मथुरा लिख दिया। तबसे प्रत्येक टीकाकार का जैसे यह पावन कर्तव्य हो गया कि वह बेनीपुरी जी का अंधानुकरण करे। प्रस्तुत टीकाकार भी इस नियम के अपवाद नहीं हैं। कोई भी निष्पक्ष परंतु विचारशील पाठक जो राजा शिवसिंह और रानी लखिमा-देई के इतिहास से परिचित होगा इस पद को देखते ही कह देगा कि यह पद व्यक्तिगत जीवन की स्थिति को लेकर रचा गया है। इससे राधाकृष्ण से कोई मतलब नहीं। इसमें तो विरहिणी रानी लखिमा के मनोभावों का वर्णन है। परिस्थिति यह है कि राजा शिवसिंह युद्धभूमि में ही अदृश्य हो गए हैं। यह निश्चय हो जाने पर कि उसके पति जीवित नहीं हैं वह सती होने के लिये सखियों से चिता सजाने की प्रार्थना करती है जिस पर विद्यापति उसे समझाते हैं कि

विद्यापति कवि गाओल रे आबि मिलत पिय तोर।
लखिमादेइ बर नागर रे राय सिवसिंघ नहि भोर ॥

यदि यह अर्थ न लगाया जायगा तो जब प्रिय ने यह कह ही दिया था कि मैं मथुरा जाऊँगा तो इसमें वह कौन सी बात थी जो राधा नहीं समझ सकती थी। यहाँ कोई न कोई श्लेषात्मक शब्द होना ही चाहिए जिससे भ्रम की संभावना हो सके। संभवतः इस पद में वह श्लेषात्मक शब्द 'मारुअ' ही है जिसके तीन अर्थ हो सकते हैं — मरु देश अथवा रेगिस्तान, मारुत देश अथवा वायव्य दिशा और मृत्यु का देश अथवा यमराज की पुरी। मथुरा रेगिस्तान नहीं है अतः मारुत देश का अर्थ मथुरा नहीं हो सकता। भौगोलिक दृष्टि से समस्त संसार तीन प्रकार के भूमिखंडों में विभाजित है — मरु, आनूप और जांगल। जहाँ वर्षा बिलकुल नहीं होती अथवा अत्यल्प होती है उसे मरु भूमि कहते हैं। जहाँ अत्यधिक वर्षा होती है उसे आनूप देश कहा जाता है और जहाँ वर्षा और सूखे की स्थिति समान

होती है वह जांगल प्रदेश कहा जाता है। अतः यहाँ मारुअ के दो ही अर्थ शेष रह जाते हैं — वायव्य दिशा और मृत्यु की भूमि। विद्यापति के समय की शर्की सल्तनत की राजधानी जौनपुर मिथिला से वायव्य दिशा में स्थित है। अतः जब राजा शिवसिंह ने रानी लखिमा से मारुअ देश की यात्रा की बात कही तो उसने स्वभावतः यही समझा कि वे जौनपुर जाने की सोच रहे हैं। 'मोय अभागलि नहिं जानल रे' का अर्थ इतना ही है कि उसने 'मारुअ' का यह अर्थ नहीं समझा कि उसके पति रणभूमि या मृत्युभूमि में जाने की सोच रहे हैं।

चूँकि उक्त अर्थ की ओर टीकाकारों की दृष्टि नहीं गई अतः प्रस्तुत टीकाकारो ने भी पुरानी लीक से तिलभर भी इधर उधर होना स्वीकार नहीं किया है। परंपरानुसार उन लोगो ने इस पद में भी राधाकृष्ण के ही क्रियाकलाप के दर्शन किए हैं। यह देखकर तो यही समझना पड़ता है कि लोक में राधाकृष्ण के प्रति भक्ति भले ही घटी हो उनके प्रति अनुरक्ति में तो वृद्धि ही हुई है। यह संभवतः इसी अनुरक्ति का परिणाम है कि प्रस्तुत टीकाकारो ने अन्य अनेक पदों में राधाकृष्ण का नामगंध न रहने के बावजूद अर्थकथन में उनका नामस्मरण किया है। प्रचंड नास्तिकता के इस युग में ऐसी अखंड आस्तिकता अवश्य आश्चर्यजनक है।

पुस्तक के आकार और उसकी सामग्री से प्रकट है कि परिश्रमी संपादकों ने अपनी ओर से पुस्तक की उपयोगिता बढ़ाने में कोई कोर कसर नहीं की है। उन लोगों ने गीत की एक दर्जन से अधिक हिंदी अँगरेजी परिभाषाएँ संकलित की हैं। विद्यापति संबंधी प्रत्येक प्रश्न पर किस विद्वान् ने क्या कहा है इसका अनूठा संकलन प्रस्तुत पुस्तक की विशेषता है। फिर यह सर्वथा दूसरी बात है कि गीतों के स्वरूप और उनके भेदों का उल्लेख करते समय 'विद्यापति पदावली' का ध्यान नहीं रखा गया और विद्वानों का उद्धरण देते समय कहीं कहीं अनावश्यक और निरर्थक टिप्पनी भी जड़ दी गई।

'विद्यापति की गीतिकला' शीर्षक अध्याय में जहाँ डा० कृष्णदेव उपाध्याय कृत लोकगीतों के विभाजन का आधार उद्धृत है वहाँ डा० जयकांत मिश्र के वर्गीकरण का भी उद्धरण दे दिया जाता तो पुस्तक की उपयोगिता में चार चाँद लग जाते। कारण डा० मिश्र के वर्गीकरण का सीधा संबंध 'विद्यापति पदावली' से है। उस वर्गीकरण से ही मैथिली गीतों के तिरहुती, वटगमनी, गोआलरी, नचारी, महेसबानी आदि भेदोपभेदों का परिचय मिल सकता है। डा० मिश्र ने प्रत्येक प्रकार के गीत का लक्षण भी प्रस्तुत किया है जैसे तिरहुती के संबंध में उन्होंने लिखा है कि यह प्रेमगीत है। प्रेमदशा में हृदय की प्रत्येक वृत्ति का 'चित्र

इसमें प्रस्तुत किया जाता है। प्रायः टेक में 'ना', ''हो', 'रे', या 'सजनि गे' प्रयुक्त होता है।'

यदि डा० मिश्र के कथन का भी उद्धरण दिया गया होता तो विद्यापति के गीतों का वर्गीकरण करने में पाठकों को बहुत सुविधा होती। इसी प्रकार विद्यापति का जीवनवृत्त शीर्षक निबंध में जहाँ विद्यापति के स्वप्न की पौराणिक व्यवस्था के बाद श्री शिवनंदन ठाकुर द्वारा स्थिर विद्यापति की मृत्युतिथि ३२६ ध्याख्या संवत् का उद्धरण दिया है वहीं डा० शिवप्रसादसिंह द्वारा श्री शिवनंदन ठाकुर की स्थापना के खंडन का भी उल्लेख किया है। यह अच्छी बात है। किसी भी प्रश्न पर खंडन मंडन की समस्त सामग्री का एक ही स्थान पर संकलन अवश्य ही उपयोगी कहा जायगा। संपादकद्वय ने लिखा है कि 'श्री शिवप्रसादसिंह के खंडन में कोई जान नहीं है और उनका कथन विशेष महत्वपूर्ण नहीं है।' परंतु स्वयं इन संपादकों के ही उक्त कथन का आधार क्या है, जब तक इसका पता न चले तब तक उनका कथन भी कोई महत्व न रख सकेगा। जब संपादकद्वय ने यह लिखा कि ३४१ ल० सं० (१४६० ई०) तक विद्यापति का जीवित रहना प्रमाणित नहीं होता तो वहीं उन्हें यह भी बताना चाहिए था कि यदि प्रमाणित नहीं होता तो अप्रमाणित कैसे होता है।

पदावली की सरस और विस्तृत व्याख्या से परिपुष्ट कलेवरवाली इस पुस्तक में कहीं कहीं कुछ ऐसी बातें भी रह गई हैं जिनकी व्याख्या परमावश्यक थी। 'विद्यापति पर पूर्ववर्ती प्रभाव' पर विचार करते हुए संपादकों ने दो स्थानों पर विद्यापति को प्रभावित करनेवालों की सूची प्रस्तुत की है। उस सूची में माघ, कालिदास, अमरुक, जयदेव के साथ ही एक नाम जगन्नाथ भी है। ये जगन्नाथ कौन हैं? संस्कृतसाहित्य में तो केवल एक ही जगन्नाथ का बोलबाला है और वे हैं सुप्रसिद्ध पंडितराज जगन्नाथ। परंतु पंडितराज विद्यापति के प्रायः तीन सौ वर्ष बाद उत्पन्न हुए थे। ऐसी स्थिति में उन्होंने विद्यापति को कैसे प्रभावित कर लिया यह बात साधारण बुद्धि में नहीं समाती। जान पड़ता है कि पंडितराज के नाम का उल्लेख संपादकद्वय केवल रौ में आकर कर गए हैं कारण उन्होंने पंडितराज का कोई छंद उद्धृत कर उससे विद्यापति के किसी पद की तुलना नहीं की है।

विद्यापति पर पूर्ववर्ती प्रभाव का विवेचन जिस अध्याय में किया गया है उसमें जितना आडंबर है उतना तथ्य नहीं। माघ, कालिदास, अमरुक आदि का विद्यापति पर फुटकल प्रभाव दिखलाते समय यदि संपादकों ने महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री के इस कथन का भी उल्लेख कर दिया होता तो अच्छा होता कि 'संस्कृत अलंकार में जो कविप्रौढ़ोक्ति है जितनी चलती उपमाएँ

हैं, विद्यापति ठाकुर ने अपने गीतों में उन सबका प्रचुर प्रयोग किया है। हाल शप्तशती, आर्या सप्तशती, अमरुशतक, शृंगारशतक आदि संस्कृत और प्राकृत के शृंगाररस के काव्यस्तवक से विद्यापति ने अपने गीतों के लिये भाव संग्रह किया है। पदावली पढ़ते पढ़ते प्रायः संस्कृत परिचित श्लोकों की याद आ जाती है। प्रायः प्रतीत होता है कि इन संस्कृत कविताओं के ऊपर विद्यापति ने अपना रंग चढ़ाया है, उनसे ही भाव ग्रहण कर उन भावों को और भी चमकाया है। कहीं कहीं स्त्रीरूप का वर्णन करते हुए उन्होंने किसी भी अंग का नाम नहीं लिया है परंतु उपमानो को इस प्रकार सजाया है कि जिसने संस्कृत नहीं पढ़ी है वह उन पदों से रस नहीं प्राप्त कर सकता। ऐसी स्थिति में जिन लोगों ने संस्कृत पढ़ी है उनके लिये स्वर और भाषा छोड़कर पदावली में और कुछ भी नया नहीं है। विद्यापति का गान उसी संस्कृत कविता की याद दिला कर थम जाता है।'

कभी श्री सतीशचंद्र राय ने श्री नगेंद्रनाथ गुप्त और श्री रामवृक्ष बेनीपुरी के पदावलीसंस्करणों की आलोचना करते हुए लिखा था कि गुप्त जी के संस्करण के अनुसार बेनीपुरी जी के संस्करण में भी निम्नलिखित चार श्रेणी की भूलें देखी जाती हैं —

१ — पदनिर्वाचन की भूल २ — पदविन्यास की भूल ३ — पाठ में भूल और ४ — अर्थ में भूल। राय महाशय की इस सूची में जिन भूलों का उल्लेख है वे ही भूलें श्री भाटी जी और जोशी जी के प्रस्तुत संस्करण में भी मौजूद हैं। कारण हिंदी में इधर 'विद्यापति पदावली' के जितने संकलन प्रकाशित हुए हैं उन सभी का आधार बेनीपुरी जी वाला संस्करण ही है। फलतः जो भूलें और जितनी भूलें बेनीपुरी जी के संस्करण में थीं वे ज्यों की त्यों प्रस्तुत संस्करण में भी सुरक्षित रह गई हैं। अतः पदनिर्वाचन संबंधी एक भूल का उदाहरण दे देना अप्रासंगिक न होगा। बेनीपुरी जी के संस्करण और प्रस्तुत संस्करण का २०० संख्यक पद निम्नलिखित है —

मोर बन बन सोर सुनइत
बढ़त मनमथ पीर
प्रथम छार असाढ़ आओल
गगन अवहु गंभीर
+ + +
निझर झर झर झाक झाहुक
छुटत मदन बनक
+ + +

सिंह भूपति भनइ ऐसन
चतुर मास कि बोल ॥

किसी जमाने में श्री नगेंद्रनाथ गुप्त ने यह मत प्रकट कर दिया था कि **सिंह भूपति भणितायुक्त सकल पद विद्यापतिर रचित। सिंह भूपति शिवसिंह।** अर्थात् सिंह भूपति भणितायुक्त सभी पद विद्यापति द्वारा रचित हैं। सिंह भूपति शिवसिंह ही हैं।

उक्त 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' के रहते प्रस्तुत संस्करण के संपादकगण कोई दूसरी बात कहने का दुःसाहस कैसे कर सकते थे। फलतः उन्होंने भी कह दिया कि राजा शिवसिंह यह कहते हैं। उधर श्री सतीशचंद्र राय ने हिंदी साहित्य संमेलन द्वारा प्रकाशित अपनी पुस्तक में साफ साफ कह दिया था कि सिंह भूपति वाले पदों को विद्यापति के संकलन में उद्धृत करना बड़ी भूल है। पुनः सन् १६४६ में प्रकाशित 'द हिस्ट्री आव् मैथिली लिटरेचर' में डा० जयकांत मिश्र ने और भी जोरदार शब्दों में अपना मत प्रकट किया कि श्री नगेंद्रनाथ गुप्त ने 'भूपति' या 'सिंह भूपति' को शिवसिंह अथवा विद्यापति का दूसरा नाम समझकर भूल की है। इस विश्वास के प्रचुर कारण हैं कि यह किसी दूसरे ही कवि का नाम है। भूपति नेपाल के राजा और कवि भूपतींद्र हो सकते हैं। पुनः हम लोग एक सिंह भूपाल को भी जानते हैं जिन्होंने सारंगदेव के 'संगीतरत्नाकर' और 'रसार्णव सुधाकर' पर टीकाएँ लिखी थीं। ये सिंह भूपाल कर्णाट वंश के मैथिल राजा भूपालसिंह हैं। ये सिंह भूपति सिंह नृपति भी हो सकते हैं जो स्पष्टतः पाटण के नेपाली नरेश सिद्ध नरसिंह हैं जिन्होंने सन् १६२० से लेकर १६५७ तक राज किया था।

इतने अधिक प्रमाणों के रहते भी यदि कोई सिंह भूपति भणितायुक्त पदों को विद्यापति रचित मानने का ही दुराग्रह करता है तो उससे पूछना चाहिए कि क्या विद्यापति के समय में बंदूक का आविष्कार हो चुका था। तत्कालीन इतिहास ग्रंथों में अस्त्र शस्त्रों की जो सूची मिलती है उसमें बंदूक का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। दूसरी ओर इतिहास अवश्य ही यह बताता है कि बारूदी अस्त्रों का भारत में प्रथम प्रयोग बाबर और इब्राहीम लोदी के युद्ध में हुआ। ऐसी स्थिति में विद्यापति द्वारा 'छूटत मदन बनूक' लिखा जाना क्या संभव है ?

प्रस्तुत संकलन के संपादकों ने गो० तुलसीदास जी के इस कथन की सर्वथा उपेक्षा करते हुए कि **गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न** अर्थकथन में अटकल से भी काम लिया है। उदाहरण के लिये इन पंक्तियों का अर्थ कि 'सिंह भूपति भनइ ऐसन चतुर मास कि बोल' का यह अर्थ किया गया है कि राजा शिवसिंह यह कहते हैं कि ऐसे इन चार महीनों का चातुर्मास्य शृंगार-

वर्णन होता है। अर्थात् यह चार मास आषाढ़ सावन भादों और आश्विन विरहणीयों विरहीयों (?) के लिये कष्टदायक होते हैं।

उक्त अर्थकथन करने में संपादकों ने पूर्ववर्ती टीकाकारों जैसे कुमुद विद्यालंकार, श्री जयवंशी झा तथा श्री वसंतकुमार माथुर की परंपरा का पूरा पूरा ध्यान रखा है। उन टीकाकारों ने भी इसका अर्थकथन करने में अटकलबाजी की थी। श्री कुमुद विद्यालंकार और जयवंशी झा का अर्थ है कि राजा शिवसिंह कहते हैं कि ऐसे चातुर्मास्य में कुछ नहीं कहा जाता। श्री वसंतकुमार माथुर ने अपनी टीका में यह अर्थ लगाया है कि कवि भूपतिसिंह (विद्यापति का उपनाम) कहते हैं कि हे बाले इन चारों महीनो को चातुर्मास कहते हैं। परंतु यदि प्रसंग को दृष्टि में रखा जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि ऐसे सुखद चौमासे को क्या कहा जाय जो मेरे लिये ऐसा दुखद सिद्ध हुआ है। चौमासे के लिये तो यह व्यवस्था है कि परिव्राजक भी परिव्रजन बंद कर देते हैं और गृहस्थ तो उस समय अपना घर छोड़ते ही नहीं। लोकप्रसिद्ध उक्ति है कि **सावन चिरैया ना घर छोड़ै ना बनिजार बनिज को जाय।**

प्रस्तुत पुस्तक में कहीं कहीं ऐसे वाक्य भी हैं जिनका अर्थ लगा पाना टेढ़ी खीर ही है जैसे कोई इन वाक्यों का क्या अर्थ लगाए ?

१. राजा शिवसिंह यह कहते हैं कि ऐसे इन चार महीनों का चातुर्मास्य शृंगारवर्णन होता है। [पृ० ५६६]

२. यह काम मनोवैज्ञानिक प्रभाव का रसमयी लक्षणा का काव्यात्मक निरूपण है। [पृ० २१५]

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है परिश्रमी संपादकों ने अपनी कृति को आकर्षक बनाने में कुछ उठा नहीं रखा है। जहाँ तहाँ संस्कृत, हिंदी और उर्दू के समानार्थी अथवा समान भाव वाले छंदों को उद्‌धृत किया है; स्वयं अपनी भी कविताएँ उद्‌धृत की हैं परंतु दुर्भाग्यवश संस्कृत या उर्दू का सम्यक ज्ञान न रहने के कारण प्रायः सभी उद्धरण अशुद्ध मुद्रित हुए हैं और स्वरचित कविताओं में तो कोई दम ही नहीं। दो चार उदाहरण पर्याप्त होंगे।

संपादकों का उर्दूज्ञान तो उनके इस वाक्य से ही विदित हो जाता है कि 'इसी पद से मिलती जुलती शायद अमीर की यह शेर पठनीय है।' अब भले ही व्याकरण और कोश चीखा चिल्लाया करें कि शेर शब्द पुल्लिंग है परंतु ऐसा कोई कानून तो है नहीं जो संपादकों को इस शब्द का स्त्रीलिंग में प्रयोग करने से रोक सके। फिर यह शेर जिस रूप में उद्‌धृत है वह भी कम मनोरंजक नहीं है। शेर देखिए—

कुछ जवानी है अभी कुछ है लड़कपन उनका।
दो दगाबाजों के कब्जे में है यौवन (?) उनका॥

उक्त शेर में यौवन शब्द विचारणीय है क्योंकि उर्दू में यह शब्द नहीं है। वहाँ तो जोबन का ही प्रयोग होता है यौवन का नहीं। उक्त शेर में जोबन की जगह यौवन शब्द का प्रयोग कर शेर का सर्वनाश कर दिया गया है परंतु यह प्रस्तुत संपादकों का दोष नहीं है। वास्तव में यह पराक्रम कुमुद विद्यालंकार और जयवंशी झा का है। उन लोगों ने स्वसंपादित 'विद्यापति पदावली' के पृष्ठ आठ पर उक्त शेर इसी संशोधन के साथ इस प्रकार उद्धृत किया था —

'और इसी भाव को लेकर उर्दू के प्रसिद्ध कवि अमीर कहते हैं...कुछ जवानी है...यौवन उनका।' प्रस्तुत संपादकों की तो प्रशंसा ही करनी पड़ेगी कि उन लोगों ने यह शेर उद्धृत करते समय अमीर के नाम के पहले 'शायद' शब्द का प्रयोग कर दिया है और कुमुद विद्यालंकार की भाँति यह निश्चित घोषणा नहीं कर दी है कि यह शेर अमीर का ही है। वास्तव में यह शेर 'अमीर' का न होकर 'मुनीर शिकोहाबादी' का है और भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित 'शेर ओ सुखन' द्वितीय भाग में ७५ वें पृष्ठ पर यह मुनीर शिकोहाबादी के नाम से ही उद्धृत भी है।

प्रस्तुत पुस्तक के पृष्ठ १८४ पर संस्कृत का एक छंद इस प्रकार उद्धृत है —

उद्भेदं प्रतिपद्यपक्वबदरीभावं समेता क्रमात्।
पुन्नागाकृतिमाप्य पूगपदवीमारुह्य बिल्वव श्रियम्॥

यदि यह छंद शुद्ध रूप में उद्धृत किया जाता तो इसका रूप यह होता —

उद्भेदं प्रतिपद्य पक्वबदरीभावं समेत्य क्रमात्।
पुन्नागाकृतिमाप्य पूगपदवीमारुह्य बिल्वश्रियम्॥

लगे हाथ एक उदाहरण हिंदी उद्धरण का भी लेना चाहिए। पृष्ठ ३४६ पर बिहारी का एक सुप्रसिद्ध दोहा ऐसे रूप में उद्धृत है जिस रूप में उसे उद्धृत करने में आठवें दरजे का विद्यार्थी भी लज्जित होगा। वह उद्धरण निम्नलिखित है—

इहि आस (?) अटक्यो रहे (?) अलि गुलाब के मूल।
अइहों (?) फेरि बसंत ऋतु इन डालिन (?) में फूल॥

इसी प्रकार गो॰ तुलसीदास जी की एक पंक्ति का श्राद्ध उसे इस रूप में उद्धृत कर किया गया है —

दामिनि दमक रह न घन माहीं।
खली की प्रीति यथा थिर नाहीं॥ पृ॰ ५६८

कहने का तात्पर्य इतना ही कि समूची पुस्तक में पद्यों के दो ही चार उद्धरण ऐसे हैं जो शुद्ध रूप में मुद्रित हो पाए हैं।

सत्यानुरोध से की गई प्रस्तुत समीक्षा के लिये संपादकों और प्रकाशक से क्षमायाचना के पूर्व दोनो का ही ध्यान आवरण पृष्ठ पर छपे हुए चित्र की ओर भी दिलाना आवश्यक प्रतीत होता है। कारण उस चित्र से इस भ्रम की पुष्टि होती है कि विद्यापति वैष्णव थे। बंगाली कीर्तनकारों ने जो विद्यापति को एक बार वैष्णव बना दिया तो आज तक यह झगड़ा चल ही रहा है कि विद्यापति भक्त कवि थे या कोरे कवि। अत्र-तत्र रामानंदी तिलक से युक्त विद्यापति के काल्पनिक चित्र प्रकाशित किए जायँगे तो भगवान् ही जाने कि इसका क्या परिणाम होगा। फिर रामानंद तो विद्यापति के परवर्ती हैं। ऐसी स्थिति में विद्यापति के मस्तक पर रामानंदी तिलक लगाने के पूर्व चित्रकार को भी गंभीर विचार करना चाहिए था।

बढ़िया चिकने और मोटे कागज पर परिष्कृत मुद्रण और बाह्य साजसज्जा के कारण यह भारी भरकम ग्रंथ यद्यपि पहली ही दृष्टि में पाठक का ध्यान आकृष्ट कर लेने में पूर्णतया समर्थ है तो भी यदि कोई इस आशा से इसे देखना चाहेगा कि इसकी टीका में कोई नई बात कही गई होगी, आलोचना में कोई नया दृष्टिकोण अपनाया गया होगा, सूचनार्थ कुछ नए तथ्य उद्घाटित किए गए होंगे या विद्यापति पदावली के प्रत्येक संग्रह में दुहराए जानेवाले भ्रम ही दूर कर दिए गए होंगे तो उसके हाथ निराशा ही लगेगी।[1]

रुद्र काशिकेय

श्रीनिंबार्क वेदांत

भागवत संप्रदाय के अंतर्गत श्रीनिंबार्क संप्रदाय पर्याप्त महत्व रखता है। इस मत के आदि प्रवर्तक श्रीनिंबार्काचार्य का दार्शनिक दृष्टिकोण द्वैताद्वैत है तथा साधनादृष्टि से वे कृष्णभक्ति के समर्थक हैं। राधाकृष्ण की युगल उपासना के तत्व को आविर्भूत करने का श्रेय इन्हीं आचार्यप्रवर को दिया जाता है जिन्होंने वेदांत कामधेनु या प्रसिद्ध दशश्लोकी नामक ग्रंथ के आदि श्लोक में ही उपास्य तत्व का विशद वर्णन किया है—

१. विद्यापति और उनकी पदावली-संपादक और टीकाकार : देवराजसिंह भाटी और जीवनप्रकाश जोशी, प्रकाशक हिंदी साहित्य संसार दिल्ली—६, पृ० ७ + ३३०, मू० अठारह रुपए (१८.००)।

अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूप सौभगाम् ।
सखी सहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्ट कामदाम् ॥

मैंने अपने 'भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा' नामक ग्रंथ में राधा के स्वरूप तथा इतिहास का वर्णन करते हुए दिखलाया है कि साहित्यजगत् में प्रथमतः आविर्भाव पानेवाली राधा को साधनाजगत् में प्रवेश कराने का गौरव श्रीनिंबार्क आचार्य को ही है। फलतः राधाकृष्ण की उपासना इस संप्रदाय का अभीष्ट साधनातत्व है। आचार्य ने अपने दार्शनिक मतवाद की पुष्टि में बादरायण के ब्रह्मसूत्रों के ऊपर एक स्वल्पकाय व्याख्यान लिखा है जो **पारिजात सौरभ** के नाम से प्रसिद्ध है। इस संप्रदाय के महनीय सिद्धांतों का परिचय हिंदी के माध्यम द्वारा हमें अनेक छोटे-मोटे ग्रंथों में उपलब्ध होता है। वृंदावन से पंडितवर व्रजवल्लभशरण जी के सदुद्योग से अनेक प्रामाणिक पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है जिनसे इस संप्रदाय के दार्शनिक तथा ऐतिहासिक रूप के ऊपर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सर्वेश्वर मासिक पत्र भी द्वैताद्वैत के सिद्धांतों के प्रकटीकरण के लिये प्रकाशित होता है। तथापि इस संप्रदाय के सिद्धांत को विस्तार से जानने की आज भी अपेक्षा बनी है।

हर्ष का विषय है कि आचार्य ललितकृष्ण गोस्वामी ने **श्रीनिंबार्क वेदांत** नामक ग्रंथ का प्रणयन कर इन विषयों की जानकारी के लिये पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत की है। ग्रंथ दो भागों में विभक्त है — पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध। पूर्वार्ध चार अध्यायों में विभक्त है। सिद्धांतसमन्वय में आचार्य निंबार्क के समन्वय सिद्धांत का विवेचन किया गया है। सिद्धांत अविरोध नामक द्वितीय अध्याय में (पृ० १६-८७) दार्शनिक और ऐतिहासिक उभय कोटि के सिद्धांतों का संक्षेप में परंतु प्रमाण पुरःसर विवरण दिया गया है। इसमें निंबार्क से पूर्ववर्ती द्वैताद्वैत के पुरस्कर्ता आचार्यों के मतों का संक्षिप्त वर्णन देकर सूत्रकार बादरायण की भी इस मतवाद की ओर अभिरुचि दिखलाई गई है (पृ० ५५-५६)। अन्य मतों के साथ इस मत की तुलना भी संक्षिप्त रूप से की गई है। तृतीय अध्याय की 'साधनासिद्धांत' संज्ञा है जो वर्ण्य विषय के सर्वथा अनुरूप है। इस अध्याय में **रसोपासना** का बहुत ही रोचक तथा आकर्षक विवरण दिया गया है तथा इस उपासना के अनुयायी सांप्रदायिक सिद्ध संतों का ऐतिहासिक वर्णन भी पाठकों के लिये विशेष ज्ञानवर्धक है। यहाँ सहजिया संप्रदाय की सहज **द्विसोपासना** ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े ही सुंदर ढंग से विवेचित है। अंतिम फलसिद्धांत नामक अध्याय में द्वैताद्वैत मत के अनुसार मोक्ष तथा

तत्साधनभूत प्रेमाभक्ति का विवेचन कर गोस्वामी जी ने इस पूर्वार्ध को समाप्त किया है।

उत्तरार्ध में श्रीनिंबार्करचित वेदांतसूत्र की व्याख्या 'पारिजात सौरभ' का हिंदी अनुवाद तथा विषम स्थलों में विशद टिप्पणी दी गई है। अनुवाद सुंदर तथा सुबोध है। सबके अंत में वेदांत कामधेनु (या दशश्लोकी) का विस्तृत भाष्य है जो पर्याप्तरूपेण सुंदर, व्यापक तथा आकर्षक है।

ग्रंथ के इस संक्षिप्त परिचय से इसकी उपादेयता का परिचय मिल जाता है। गोस्वामी जी इस संप्रदाय के विद्वान् अनुयायी हैं और इसलिये उनका विषयज्ञान बड़ा ही परिष्कृत तथा अंतरंग है। सांप्रदायिक परंपरा के ज्ञान का परिचय पदे पदे प्राप्त होता है। इसमें अन्य संप्रदायों के प्रति सहृदय का भाव संनिविष्ट लक्षित होता है। इससे यह ग्रंथ अपने विषय का निःसंदेह प्रामाणिक विवेचन है — इसे कहते आलोचक को कोई भी संदेह नहीं है। एक विशिष्ट बात ललितकृष्ण जी ने अपने ग्रंथ में बतलाई है जो नवीन और मौलिक है। वे निंबार्काचार्य को वेदांत ग्रंथों में बहुशः संकेतित द्रविडाचार्य से अभिन्न मानते हैं (पृष्ठ ६०-६२) जिन्हें वे भक्ति के द्रविडदेश में उत्पन्न होने का मुख्य हेतु मानते हैं। यदि यह सिद्ध हो जाय, तो निंबार्क का समय बहुत ही प्राचीन सिद्ध हो सकेगा। परंतु मेरी दृष्टि में इसके पोषक प्रमाण ग्रंथकार ने कम दिए हैं। मेरा उनसे आग्रह है कि वे इस विषय को संदेहकोटि से ऊपर उठाकर उत्तर पक्ष के स्तर पर लाने के निमित्त पुष्ट प्रमाणों को उपस्थित करें तो एक संदिग्ध विषय का निर्णय हो जाय। जो कुछ भी हो, ग्रंथ प्रामाणिक तथा उपादेय है। यह निःसंदेह हिंदी के दार्शनिक साहित्य में एक नवीन और अभिनंदनीय कृति है जिसके लिये विद्वान् लेखक हमारी कृतज्ञता के भाजन हैं। ग्रंथ के अंत में यदि नामों की तथा विषयों की एक अनुक्रमणी होती, तो पाठकों को अपने जिज्ञास्य विषयों की सद्यः जानकारी के लिये विशेष कष्ट नहीं उठाना पड़ता। आशा है इस कमी की पूर्ति अगले संस्करण में अवश्य कर दी जायगी।[२]

बलदेव उपाध्याय

*

२. श्रीनिंबार्क वेदांत—लेखक आचार्य ललितकृष्ण गोस्वामी, प्रकाशक श्री निंबार्कपीठ, १२ महाजनीटोला, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण संवत् २०१० पृ० सं० ४०+१६०+२७६ = ४७६, मू० १२.०० ।

वार्षिक विषयसूची (अंक १ से ४)

विमर्श

समीक्षा

*

फार्म ४

(द्रष्टव्य : नियम ८)

१. प्रकाशन का स्थान — वाराणसी

२. प्रकाशन की कालावधि — त्रैमासिक

३. मुद्रक
राष्ट्री
पता ... रिणी सभा,

४. प्रका
राष्ट्री
पूर्ण

वीर सेवा मन्दिर
पुस्तकालय
काल नं० (05)22(58) नागरी
लेखक
शीर्षक नागरी प्रचारिणी पत्रिका
खण्ड क्रम संख्या 4329